संस्कृतविश्वविद्यालय-ग्रन्थमालायाः 124 पुष्पम्

श्रीकुलयशस्विशास्त्रिभिः (श्रीशङ्करब्रह्मण्यदेवतीर्थस्वामिभिः) प्रणीतः

योगमकरन्दः

(स्वोपज्ञयोगमञ्जरीव्याख्यासहितः)

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

सम्पादकोऽनुवादकश्च
प्रो. शिवशङ्करमिश्रः
शोधविभागाध्यक्षः

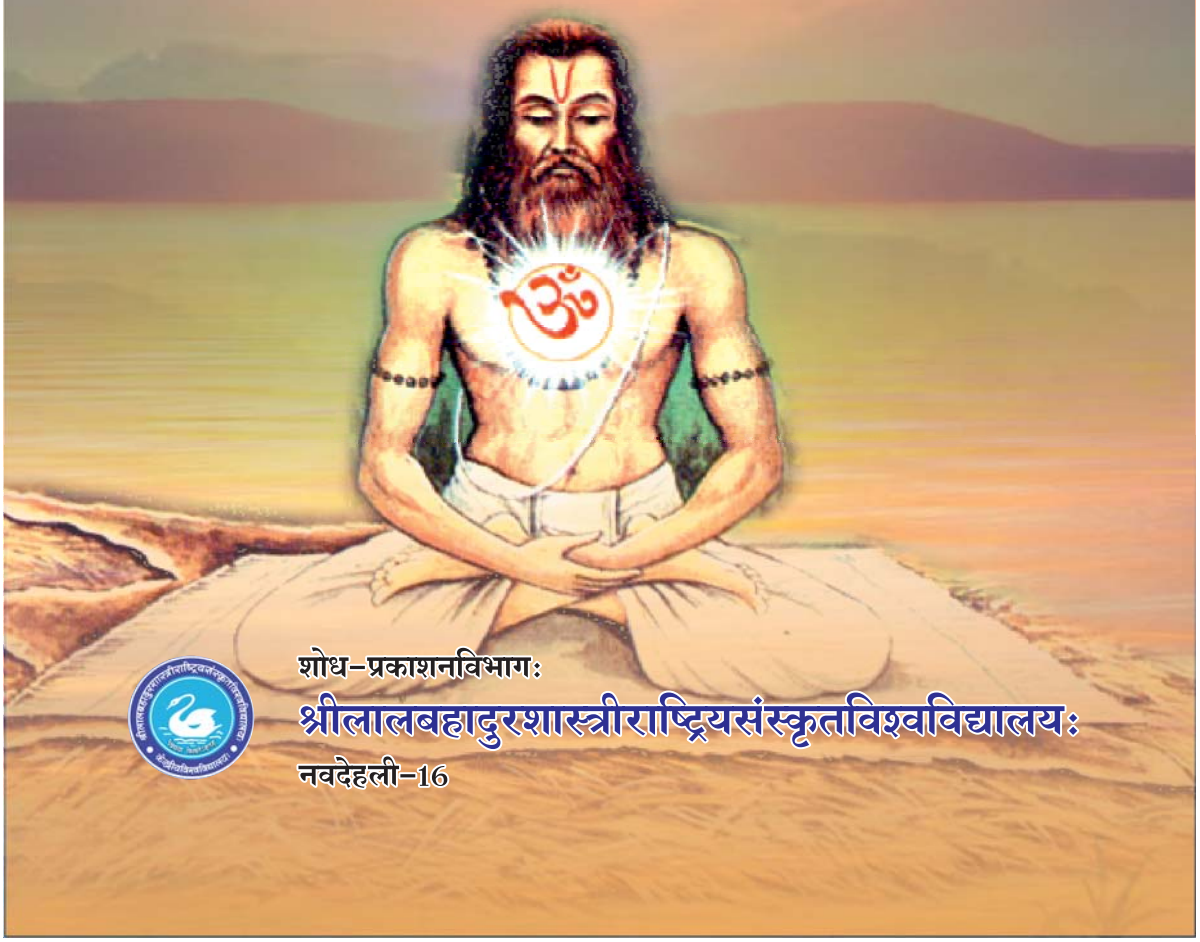

शोध-प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
नवदेहली-16

संस्कृत-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमालायाः का 124 पुष्पम्

साङ्ख्ययोगवेदान्तोपाध्यायैः श्रीकुलयशस्विशास्त्रिभिः
(श्रीशङ्करब्रह्मण्यदेवतीर्थस्वामिभिः)

प्रणीतः

योगमकरन्दः

(स्वोपज्ञयोगमञ्जरीव्याख्यासहितः)

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

सम्पादकः भाषानुवादकश्च
प्रो. शिवशङ्करमिश्रः
शोधविभागाध्यक्षः
हिन्दू-अध्ययनविभागाध्यक्षश्च

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-११००१६

प्रकाशकः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016

© प्रकाशकाधीनः

प्रकाशनवर्षम् : 2023

ISBN : 978-81-87987-97-9

मूल्यम् : ₹ 200.00

मुद्रकः

डी.वी. प्रिन्टर्स

97-यू.बी., जवाहरनगरम्, देहली-110007

प्ररोचना

'योगो युक्तिः समाधानम्' अर्थात् योग सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान है। योग प्राचीन भारत का अत्यन्त सूक्ष्म विज्ञान है, जो दुःख से सन्तप्त जीवों को साधना सिद्धि के माध्यम से मुक्ति प्रदान करता है। दर्शन के अनुसार अज्ञान को बन्धन का कारण तथा तत्त्वज्ञान को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है। दर्शन परम्परा का प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी तत्त्व को आश्रित होकर प्रवृत्त होता है, किन्तु दर्शन की अविरल परम्परा में योग दर्शन तत्त्वाश्रित होने के साथ-साथ साधनाश्रित भी है। समानतन्त्रत्वात् साङ्ख्यदर्शन के तत्त्व, प्रमाण, सत्कार्यवाद आदि सिद्धान्त योगदर्शन में भी यथावत् अभिप्रेत हैं, किन्तु योगदर्शन में मुख्यतः योगसाधनाओं का प्राधान्य है। अभ्यास, वैराग्य, प्रणवजप, ऋतम्भरा प्रज्ञा, तप, सन्तोष, ईश्वरप्रणिधान, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि प्रमुख साधनाओं की संसिद्धि से समाधि एवं कैवल्य लाभ होता है। दुःख के आत्यन्तिक नाश हेतु अनेक साधनों में योग परम साधन के रूप में सुप्रतिष्ठित है जैसा कि 'योगो भवति दुःखहा' गीतोक्त वचन द्वारा प्रमाणित है। यह योगविद्या अनादि तथा शाश्वत है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित है- 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्' योग की महत्ता बताते योगीश्वर भगवान् शिव भगवती पार्वती से कहते हैं कि हे प्रिये! ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय को ही नहीं, देवों को भी योग के विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यथा-

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।। (योगबीज 31)

महर्षि पतञ्जलि के सूत्रों को श्लोकबद्ध कर योगमकरन्द नामक ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका विरचित कर कुलयशस्वी शास्त्री जी ने प्रतिपाद्य विषय का अत्यन्त गम्भीर एवं सारगर्भित विवेचन किया है। व्यासभाष्य, भोजवृत्ति प्रभृति योगसूत्र के व्याख्यापरक ग्रन्थों के आलोक में इस ग्रन्थ की निर्मिति की गयी है, इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है।

यह अत्यन्त आनन्द का प्रसंग है कि विश्वविद्यालय के शोध एवं प्रकाशन विभाग द्वारा योगमकरन्द ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। यह ग्रन्थ निश्चय ही अध्येताओं एवं योगसिद्धि में संलग्न साधकों की जिज्ञासाओं के शमन का साधन बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं प्रकृत ग्रन्थ के सफल प्रकाशनार्थ सम्पादक एवं शोध विभाग के समस्त सदस्यों को अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

प्रो. मुरलीमनोहर पाठक

कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रस्तावना

भारतीय जनमानस में चतुर्विध पुरुषार्थों का अत्यन्त महत्त्व है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ एक दूसरे से जुड़े हैं। धर्म अर्थ का साधन है, अर्थ काम का साधन है तथा धर्म, अर्थ एवं काम तीनों पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने के साधन बनते हैं। अनेक शास्त्रों में मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा जाता है। परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के अनेक साधन बताये गये हैं जिनमें से योगविद्या अन्यतम है। योग अत्यन्त सरल उपायों से चित्त के सभी क्लेशों को नष्ट करके साधक को मोक्ष की प्राप्ति कराता है। योगबीज नामक ग्रन्थ में भगवान् शिव पार्वती को योग का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि हे देवी! यदि साधक ज्ञाननिष्ठ, सभी भौतिकाभौतिक विषयों से विरक्त है, अत्यन्त धर्मनिष्ठ है तथा अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया है तो भी उसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है। योग के विना तो देव भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं सामान्य जनों का कहना ही क्या? अतः योगसिद्धि परम आवश्यक है-

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।[१]

संस्कृत वाङ्मय में योग शब्द मुख्य रूप से तीन अर्थों में निष्पन्न होता है-समाधि, संयमन एवं संयोग। दिवादिगणीय युज् समाधौ धातु से घञ् प्रत्यय होकर समाधि अर्थ में योग शब्द की निष्पत्ति होती है। चुरादिगणीय युज् संयमने धातु से घञ् प्रत्यय होकर संयमन के अर्थ में योग शब्द निष्पन्न होता है तथा रुधादिगणीय युजिर् योगे धातु से घञ् प्रत्यय होकर संयोग के अर्थ में योग शब्द निष्पन्न होता है। महर्षि

---

१. योगबीज, ३१

पतञ्जलि को युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द ही अभिप्रेत है इसीलिए व्यासभाष्य में योग को समाधि कहा गया है-योगः समाधिः।[१] इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत वाङ्मय में योग शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी योग शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है जैसे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि योगयुक्त होकर कर्म करो, अविद्या से युक्त विचार का त्याग करो क्योंकि जय एवं पराजय दोनों स्थिति में समान होकर रहना चाहिए-योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।[२] अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता आदि द्वन्द्वों में सम रहते हुए निष्काम भाव से कर्म करना ही योग है। इसी प्रकार से कर्मयोग के सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कुशलता पूर्वक कर्म को करना योग कहलाता है।[३] एवमेव अनेक स्थलों पर भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा योग का विवेचन किया गया है।

योग की परम्परा एवं ऐतिह्य अत्यन्त प्राचीन एवं सर्वविध श्रेष्ठतम है। जगत् के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी योग के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्ष प्रतिपादित हैं। वैदिक वाङ्मय में योग का वर्णन सर्वत्र दर्शनलभ्य है। ऋग्वेद में योग की महत्ता एवं वैशिष्ट्य को उपस्थापित करते हुए ऋषि कहते हैं कि जिसके विना विद्वानों का यज्ञ या कोई कर्म सिद्ध नहीं होता वह योग है-

यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।।[४]

स्मृतिकाल में योग का स्वरूप बताते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि अपने विश्वविश्रुत ग्रन्थ याज्ञवल्क्यस्मृति में कहते हैं कि 'संयोगो योग इत्युक्तो

---

१. पातञ्जल योगसूत्र, १.१.१ व्यासभाष्य

२. श्रीमद्भगवद्गीता, २.४८

३. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। श्रीमद्भगवद्गीता, २.५०

४. ऋग्वेद, १.१८.७

जीवात्मपरमात्मनोः' अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्मा का परस्पर संयोग अथवा ऐक्य होना ही योग है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगसिद्धि से भौतिक शरीर भी रोग, वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्त हो जाता है-'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्'।[१] महाभारत में हिरण्यगर्भ को योग का प्रथम वक्ता कहा गया है- 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'।[२] योग की परम्परा का विवेचन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं कि यह अव्यय अर्थात् कभी न नष्ट होने वाला योग सर्वप्रथम मैंने विवस्वान् के लिए कहा था, विवस्वान् ने इस योग विद्या का उपदेश मनु के लिए किया तथा पुनः मनु ने यह योग विद्या इक्ष्वाकु को बताया। इसी प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग विद्या को राजर्षियों ने जाना किन्तु अनेक कारणों से यह योग विद्या किञ्चित् काल के लिए लुप्त सी हो गयी थी, मैं उसी योग विद्या को आज तुम्हारे लिए कह रहा हूँ क्योंकि तुम मेरे मित्र हो सखा हो इसलिए इस उत्तम रहस्य को तुम्हारे लिए प्रकाशित कर रहा हूँ-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।[३]

श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अध्यात्मविद्या को अत्यन्त श्रेयस्कर एवं मोक्षमार्ग का परमसाधन बताया है। भारतीय ज्ञान परम्परा में अध्यात्म विद्या शीर्षस्थान पर अधिष्ठित है। वेदों के साररूप में प्राप्त यह विद्या सम्पूर्ण विश्व को त्रिविध ताप से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु निर्देशित करती है। अध्यात्मविद्या की अनेक

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २.२२

२. महाभारत, १२.३४९.६५

३. श्रीमद्भगवद्गीता, ४.१-३

शृङ्खलाओं में सर्वप्राचीन योगविद्या प्राचीनकाल से अद्यतन सम्पूर्ण सृष्टि के सामंजस्य एवं लोभ-क्रोध-मोह-माया जैसे मानव के आन्तरिक शत्रुओं अर्थात् दुर्गुणों का शमन करने में सर्वथैव प्रासंगिक है। भगवान् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न यह विद्या महर्षि पतञ्जलि द्वारा सूत्र रूप में सुव्यवस्थित एवं सम्पोषित हुई। कालान्तर में यह विद्या अनेक चिन्तकों, विचारकों एवं आलोचकों की लेखनी का शोभावर्द्धक बनी।

योगविद्या केवल चित्तवृत्ति के निरोध से ही परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का संकल्प कराती है। इसमें अनेक शास्त्रों अनेक विद्याओं के अभ्यासादि की आवश्यकता का निराकरण किया गया है। यदि साधक सर्वप्रथम अपने चित्त को नियन्त्रित कर ले तो उसे अन्य किसी साधन को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। घेरण्ड संहिता में आचार्य घेरण्ड कहते हैं कि माया के सदृश अन्य कोई पाप नहीं है, योग के समान अन्य कोई बल नहीं है, ज्ञान के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा अहङ्कार के समान अन्य कोई शत्रु नहीं है। अतः प्रत्येक साधक के लिए यह योगविद्या अत्यन्त उपयोगी है-

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम्।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः।।

महर्षि पतञ्जलि ने 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र से योग ग्रन्थ के प्रारम्भ का संकल्प लेते हुए 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र से योग का स्वरूप बताया है। चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है। पुनः महर्षि पतञ्जलि ने चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय के विवेचन में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ को परिसमाप्त किया है। योगसिद्धि से प्राप्त होने वाली अवस्था का भी महर्षि पतञ्जलि ने वर्णन किया है वे कहते हैं कि जब साधक की योगसिद्धि हो जाती है वह सभी साधनों को सिद्ध कर लेता है तो वह अपने परमानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है जो उसका मूल स्वरूप है-'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। अगले सूत्र में कहते हैं कि जबतक साधक अपने स्वरूप में स्थित नहीं हुआ है तबतक उसका स्वरूप अथवा व्यवहार कैसा रहता है? तो महर्षि पतञ्जलि कहते

हैं कि इस अवस्था में वह चित्तवृत्ति के अनुरूप होता है। जैसी उसकी चित्तवृत्ति होती है उसका कर्म भी तत्सदृश होता है- 'वृत्ति- सारूप्यमितरत्र'। चित्तवृत्तियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके निरोध के उपाय बताते हैं कि अभ्यास एवं वैराग्य से ही चित्तवृत्ति का निरोध हो सकता है-'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। चित्तवृत्ति के निरोध में अनेक उपायों का विवेचन प्राप्त होता है। चित्तवृत्तिनिरोध के क्रम में ही ईश्वर का भी विवेचन प्राप्त होता है जहाँ महर्षि कहते हैं कि ईश्वरप्रणिधान से चित्तवृत्ति का निरोध सम्भव है-'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। इसी प्रकार से एक सूत्र से दूसरे सूत्र को सम्बद्ध करके महर्षि पतञ्जलि ने कुल 195 सूत्रों में योग का वर्णन किया है।

विश्व का आदिम पद्य 'अग्निमीडे पुरोहितं' के रूप में ऋग्वेद में तथा 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः' लौकिक संस्कृत में प्रसिद्ध है। जनमानस में श्लोकों की महत्ता एवं प्रासंगिकता सर्वत्र दर्शनीय है। चूंकि श्लोक जनमानस के अन्तर्मन से जुड़े हैं इसलिए संस्कृतवाङ्मय में अधिकाधिक ग्रन्थ श्लोकबद्ध ही प्राप्त होते हैं। महर्षि पतञ्जलि द्वारा 195 सूत्रों में निबद्ध योगदर्शन के सिद्धान्तों को 107 श्लोकों में निबद्ध कर संस्कृत वाङ्मय में योगदर्शन को पद्यात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है। श्री कुलयशस्वी शास्त्री द्वारा सर्वप्रथम योगसूत्रों को **'योगमकरन्द'** नामक ग्रन्थ में श्लोक रूप में पिरोया गया तथा तत्पश्चात् **'योगमञ्जरी'** नामक स्वोपज्ञ टीका से स्पष्ट एवं व्याख्यायित किया गया। श्री शास्त्री जी ने पातञ्जल योगसूत्र के साथ व्यासभाष्य, भोजवृत्ति आदि टीकाओं के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। श्रीशास्त्री जी का यह ग्रन्थ-समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद नामक चार पादों में विभाजित है। श्रीशास्त्री जी का महर्षि पतञ्जलि के सिद्धान्तों से किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है इन्होंने महर्षि पतञ्जलि को श्लोकों के माध्यम से बड़ी ही सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार सांख्यदर्शन के षडध्याय में विवेचित सिद्धान्तों को ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका की 70 कारिकाओं में श्लोकबद्ध किया वैसे ही श्रीशास्त्री जी ने भी महर्षि पतञ्जलि के सूत्रों को श्लोकरूप में निबद्ध किया है।

श्रीशास्त्री जी योगमकरन्द में योग का लक्षण 'निरोधश्चित्तवृत्तीनां स योगः' से करते हैं। स्वोपज्ञ टीका में क्लेशादि कर्मों को नष्ट करते हुए चित्तवृत्तियों के निरोध करने को योग कहा है-'क्लेशकर्मविघटकत्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वम्'। इस योग शब्द को और व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि- **'चित्तपदेनात्रान्तःकरणसामान्यस्य महतोऽभिधानान्महांश्च प्रकृतेराद्यः परिणामस्स च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायचिन्तनात्मकवृत्ति-चतुष्टयवानिति युक्तं तन्निरोधस्य योगत्वम्'।** इस प्रकार श्रीशास्त्री जी पतञ्जलि के सिद्धान्तों को यथावत् प्रस्तुत करने के सङ्कल्प से योगमकरन्द नामक ग्रन्थ का प्रणयन करते हैं साथ ही स्वोपज्ञ टीका के द्वारा पतञ्जलि के वचनों में अधिक स्पष्टता और संज्ञानता लाने का प्रयत्न भी करते हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ योगदर्शन के जिज्ञासु अध्येताओं एवं योग विषय में अध्ययनरत विद्यार्थियों तथा योगवाङ्मय के लिए अत्यन्त उपादेय है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में समस्त कारिकाओं का हिन्दी भाषा में भावानुवाद कर जिज्ञासु पाठकों के लिए उपनिबद्ध किया है, पाठकों को जिससे श्लोकों का आशय अत्यन्त सहजतया अवगत हो सके। अतः योगमञ्जरी सहित योगमकरन्द ग्रन्थ का पुनः परिशोधनपुरस्सर पुनस्सम्पादन तथा प्रकाशन योगविद्या की बौद्धिक परम्परा, समाज एवं राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपादेय है।

- प्रो. शिवशङ्कर मिश्र
सम्पादक

ॐ

साङ्ख्ययोगवेदान्तोपाध्यायस्य श्रीकुलयशस्विशास्त्रिणः
(श्रीशङ्करब्रह्मण्यदेवतीर्थस्वामिनः)

भूमिका

इह खलु प्रेक्षावन्तोऽप्रेक्षावन्तो वा सर्वे एव जना दुःखं जिहासन्ति। तत्रैतावानेव तु विशेषो यत्प्रथमे धीप्रभावेण तत्प्रभवन्ति प्रहातुं, न परे। उपाये एव च पुरुषव्यापारोनोपेये इत्युपायं गवेषयन्ति तदीयम्। तत्रापि च लौकिकास्ते राज्यवाणिज्यादिरूपा नीतिभैषज्यादिरूपा वा न खल्वेकान्ततोऽत्यन्ततश्च दुःखमुन्मूलयितुमवकल्पन्ते। तत्कस्य हेतोः, समूलमनुन्मूलनात्तस्य। न हि शास्त्राधिगमैकगम्यविवेकविज्ञानमन्तरा अविवेकजपुंप्रकृतिसंयोगप्रभवानन्तदुःखपरम्परा परिहातुं शक्या नाम। तत्रानन्तसन्ततदुःखज्वालाजटिलजगज्ज्वलनकवलीकृताञ्जनानुद्दिधीर्षुर्भगवान् नारायणः स्वयं कपिलमूर्त्याऽवतीर्य करुणापरायत्तः समासव्यासयोगाभ्यां विवेकशास्त्रं प्रणीयाऽऽसुरिपञ्चशिखप्रमुखपरमर्षिशिष्यप्रशिष्यपारम्पर्य्येणोपदेशप्रत्युपदेशपरिपाट्या प्रवर्त्तयाम्बभूव। यत्राविवेकं हेयस्य निदानं विवेकञ्च तद्धानोपायं प्रतिपादयामास। विवेको नाम पुरुषविशेष्यकः प्रकृत्यन्यत्वप्रकारकः (पुरुषः प्रकृतिभिन्नः) साक्षात्कारः। सोऽयं खलु साक्षात्कारो निदिध्यासनैकसाध्यः *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य"* इत्यादिश्रुतेः। तच्च निदिध्यासनं किं वा? कीदृशं वा? कतिविधं वा? के वा? पुनस्तदुपायप्रत्युपाया इति तदीयमशेषविशेषं प्रतिपादयद् योगशास्त्रं स्वयं स्वयंभूर्भगवान् कल्पारम्भे प्रजापतीन् परमर्षींश्च शशास—अथानुशशास भगवान् शेषः पतञ्जलिमूर्त्या। तच्च पातञ्जलं शास्त्रं व्यासदेवभोजदेवादयो व्याचक्तुरेतच्च वैयासिकं वाचस्पतिमिश्रविज्ञानदेवप्रभृतयः। एवं सुबहुशाखाप्रशाखासन्तानविततमिदं शास्त्रं विदुषामपि दुर्ग्रहमिवापेदे—इति सौकर्य्येण विदुषां तस्य पाठग्रहमर्थग्रहञ्चापेक्षितं

चिररात्रायाऽऽककय्य न खलु कारिकागुम्फनादृते सुग्रहो भवति पाठः—न च पाठसुग्रहमन्तरेण तज्जोभवत्यर्थावबोधः सुखेनेतिनिरचैषं, प्राणैषञ्च योगमकरन्दम्। किञ्च स्वरूपावाप्तये सर्वोपायैर्मुमुक्षुभिरायासो विधयो यथा न भवेत्पौनःपुन्येन घोरेषु संसाराङ्गारेषु परिपाक इत्यस्ति सर्वेषां महर्षीणां दुन्दुभिताड़नपुरस्सरो दीर्घरवप्रयुक्तो महाडिमडिमः। सर्वोपायेषु च गरिष्ठो वरिष्ठश्च योग एवोपायः। *"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः॥ कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्ज्जुन"* इति वचसा स्वयं योगीश्वरेण भगवता श्रीकृष्णेनार्जुनम्प्रति योगस्य वरीयसत्वप्रतिपादनात्। स च योगो यमाद्यष्टाङ्गानुष्ठानसाध्यो महदायासेन सम्पाद्यते सम्पादकैर्मुमुक्षुभिः। यतो न क्षमन्ते तेऽपि योगतत्त्वविद्गुरूपदिष्टयमाद्यष्टाङ्गानुष्ठानप्रक्रियामन्तरेण साधयितुं योगम्। योगतत्त्वविद् गुरुश्चापि योगशास्त्रोपदिष्टामिव यमाद्यष्टाङ्गानुष्ठानप्रक्रियां प्रतिपादयन् सुसेव्यतामुपपद्यते गुरुताञ्च। अन्यथा सोऽप्यद्धेयवचनतया क्षिप्रं मुमुक्षुभिर्योगारुरुक्षुभिरुपेक्ष्यत एवेति योगशास्त्रस्यैवाव्याहतं योगाङ्गप्रकाशनसामर्थ्यम्। योगशास्त्रप्रकाशितयोगाङ्गप्रकाशश्च योगग्रन्थेभ्य एव नान्यतस्ते च तूर्णं योगारुरुक्षुभिर्योगतत्त्वजिज्ञासुभिर्न युगपदुपलभ्यन्ते शक्यन्ते वा दृष्टमिति व्यरचयं योगग्रन्थसारभूतं योगमकरन्दम्। अथ तथापि शास्त्रीयसमासस्य व्यासैकगम्यतया विद्वज्जनानुरोधनवशेन योगमञ्जरी नाम तद्व्याख्यां न्यभान्त्सम्।

ॐ

॥ नमः परमात्मने ॥

योगमकरन्दः

योगमञ्जरीसहितः

प्रथमः पादः

अम्बां श्रीतुलसीमतुल्यविलसद्वात्सल्यसीमान्तथा
तातं श्रीगिरिधारिणं द्विजजनक्षेमैकदीक्षाधरम्।*
शास्त्राम्भोजविकासवासरमणिं श्रीराममिश्राह्वयं
श्रीमन्तञ्च गुरुं जनः पुनरयं नित्यं नमत्यञ्जसा॥१॥

** योगमञ्जरिकया कयाचिदऽप्येतया मुदमुदावहन्तु भोः।*
अत्र योगमकरन्दसुन्दराऽमन्दतुन्दिलहृदा सदालयः॥२॥

स्वानुजशालिग्रामाध्ययनस्य कृते कृतेयमस्ति कृतिः।
श्रीहरिदासपितृव्यप्रेरणया योगमञ्जरी नाम्ना॥३॥

तत्र तावन्निजनिर्मितयोगमकरन्दव्याख्यानं चिकीर्षुर्विघ्नविघाताय कृतं स्वेष्टदेवतानिर्देशरूपमङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति–"*यस्य भासेति।*"

यस्य भासा जगत्सर्वं भाति स्थावरजङ्गमम्।
भ्रान्तिमात्रैकदेहन्तं विश्वनाथमहम्भजे॥१॥

तत्र श्लोकार्द्धेन स्वेष्टदेवताया निखिलजगदवभासकत्वप्रतिपादनात्

---

* निज।

* सतामालयः सदालयः सर्वे विद्वज्जनाः "कयाचिदपि" इत्यनेनैतद्ग्रन्थनिर्माणे ग्रन्थकर्त्तुरनायासो व्यज्यते यद्वा अनुभवैकगम्यसारयाऽनया मञ्जुलया योगमञ्जर्या सोदमासादयन्तु या खलु योगमकरन्दो नाम मूलकारिकाग्रन्थस्तत्प्रतिपाद्यार्थप्रतिपादनपरा, अथ च सदा अलयो भ्रमरा–इत्यादिर्द्वितीयोऽर्थः स्वयमूहनीयः।

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती" तिश्रुत्यर्थोऽपि भवति सूचितः। एतदुक्तम्भवति-यद्यपि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमानन्द-मूर्त्तिर्भगवान् विश्वनाथो नास्ति तस्याणुरपि गन्धो देहसम्बन्धस्य, तथाप्यतीव-घोरसंसाराङ्गारपरिपच्यमानाङ्गानां जननमरणान्धकारे विपरिवर्त्तमानानामर्वाग्-दृशाञ्जन्तूनां स्यान्नाम कथञ्चित् क्लेशतिमिरविनाश इति करुणया देहमु-पात्तवान्॥१॥

क्लेशकर्ममुखबन्धबन्धनैर्दूरतः परिपलायते सदा।
यत्र चेतसि सकृत्समागते तं परं पुरुषमाश्रयामहे॥२॥

स्वश्रद्धास्पदं निर्विशेषं ब्रह्म निर्दिश्य प्रकृतशास्त्रानुसारेण सविशेषं प्रणमते-*"क्लेश कर्म्मेति"*। यस्मिन् भगवति पुरुषोत्तमे भजता जनेन स्वहृदये सकृदपि साक्षात्कृते सति भक्तस्य क्लेशकर्मविपाकाशयाः सर्वथा नश्यन्ति मुक्तो भवति स इति यावत् तस्य तु पुनर्भगवतः किमु वक्तव्यं तेभ्योऽस्पृष्टत्वमित्येतावता *"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट"* इत्यादिः प्रकृतशास्त्रार्थः कापिलतन्त्रादसाधारणोऽपि भवति ध्वनितः॥२॥

इह खल्वपवर्गसिद्धये बहूनुपायानुपदिशन्ति तीर्थकारास्तद्यथा वस्तुतत्त्व-ज्ञानमौपनिषदाः सप्तपदार्थज्ञानं च कणभुजा, कर्माणि च मीमांसकाः। तत्र न प्रथमः कल्पः-एतन्मते वस्तुतत्त्वस्याविषत्वेन तद्विषयज्ञानासम्भवाद् यदि च कर्मधारयमाश्रित्य वस्तुतत्त्वभूतमेव ज्ञानमपवर्गसाधनम् न तु तद्विषय-मित्युच्येत तथापि ज्ञातं सत्तदपवर्गसाधनमज्ञातं सद्वा। न ज्ञातं सत्तदपवर्गसाधनं सविषयत्वापत्तेः। नाप्यज्ञातं सदिति, अज्ञातसतस्तस्यापवर्गाजनकत्वान्न ह्यज्ञातं सत्तदपवर्गजनकमज्ञातसतो वस्तुतत्त्वस्य सार्वदिक्त्वेन सर्वदा मोक्षजनन-प्रसङ्गादननुभूतवस्तुतत्त्वानामप्यपवर्गसिद्धिप्रसङ्गाच्च; तन्निरासाय ज्ञातस्य तस्य कारणत्वाङ्गीकारे निरुक्त एव स विषयत्वापत्तिर्दोषः। किञ्च ज्ञानानां सविषयकत्वनियमानुरोधेन वस्तुतत्त्वभूतज्ञानेऽपि सविषयकताया अवश्य-मङ्गीकरणीयत्वेन तज्ज्ञानमपि वस्तुतत्त्वान्तरविषयं वक्तव्यमिति कस्याप-वर्गहेतुत्वं पूर्वस्यापरस्य वेत्यपि पर्य्यनुयोगापत्तेरनवस्थादयो दोषाश्च स्फुटा एवेति न वस्तुतत्त्वज्ञानमपवर्गजनकमिति।

नापि द्वितीयः-अपवर्गहेतुत्वेन काणभुजाभिमतपदार्थज्ञानस्यार्वाग्-

दृशामनुत्पत्तेः। न च सामान्यलक्षणया तज्जन्यत इति साम्प्रतम्; तज्जनित-ज्ञानस्याभिज्ञानभिज्ञोभयसाधारण्येन हेतुत्वानुपपत्तेः। न हि सामान्यलक्षणा-जनितं ज्ञानमपवर्गसाधनायालमलौकिकत्वान्न ह्यलौकिकं तदविद्यामुच्छेत्तुमीष्टे, तस्या लौकिकैककसाक्षात्कारनिवर्त्त्यत्वात्तदुच्छेदकत्वेऽपि तज्जनितज्ञानस्या-विदुषोऽपि सम्भवात्तस्यापि मोक्षभागित्वं प्रसज्येतेति न सामान्यलक्षणाजनितं ज्ञानमपवर्गसाधकम्।

न चैतद्भियैव तज्जनितज्ञानमपवर्गनिर्वर्त्तकमिति नोच्यतेऽपितु तत्तद्धर्म-प्रकारकं लौकिकमिति; पदार्थनामानन्त्येन विशिष्य तत्तद्धर्मं पुरस्कारेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। न च पदार्थानां विशिष्य तत्तद्धर्मपुरस्कारेण ज्ञातुमशक्यत्वेऽपि सुकरं तदीयं विभाजकरूपेण ज्ञानमिति, तस्यापि स्वाश्रयीभूतयावद्व्यक्तिग्रह-मन्तरानुत्पत्तेस्स्वाश्रयीभूतयावद्व्यक्तिग्रहश्चार्वाग्दृशामनुपपन्न इति न काणभुजं मतमपि सम्यक्।

नापि तृतीयः-कर्मणामविवेकनिवर्त्तकत्वासम्भवान्न हि कर्माणि साक्षाद-विवेकप्रतिबन्धकान्यविवेकस्य स्वविरोधिविवेकप्रतिबध्यत्वात्। न हि विवेको नाम कश्चित् पृथक् प्रतिबन्धकतया भवदभिमतो यः प्रत्युदितः सन् समूलघातं निवर्त्तयेदविवेकं कर्माणि च स्वयमेवाशुद्ध्यादियुक्तानीति नालं विवेकं जनयितुं प्रागेवापवर्गमिति कक्षात्रयाभिमतापवर्गोपायानामनुपायत्वेन योगविदभिमताऽविप्लवा विवेकख्यातिरेव मोक्षसाधनं, सा च योगाङ्गानुष्ठान-जनिता शुद्धिसमुच्छेदानुवर्त्तिज्ञानदीप्त्यासाद्या। तथा चाह महर्षिर्भगवान् पतञ्जलि-*"योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते"* रितियोग-स्वरूपमाह-*"निरोध"* इति।

निरोधश्चित्तवृत्तीनां स योगो द्विविधो मतः।
निर्बीजः प्रथमश्चैकः सबीजस्स्याच्चतुर्विधः॥३॥

तल्लक्षणं च क्लेशकर्मविघटकत्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वम्। क्षिप्त-मूढादिषु माभूद्योगत्वमिति सत्यन्तनिवेशस्तथा च तत्र वृत्तिनिरोधसत्त्वेऽपि क्लेशकर्माद्यविघटकत्त्वात्तस्य न तेषु योगत्वम्। विवेकख्यातावपि तद्वि-घटकत्वसत्त्वात्तद्वारणाय निरोधान्तम्-यद्वा स्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगत्वमिति लक्षणम्। निरोधश्चात्र वृत्तिनिष्ठप्रतियोगिताको भावरूप एव

बोध्यो न तु तदविच्छिन्नप्रतियोगिताकस्तेन न सम्प्रज्ञातात्मकयोगापरिग्रहो न वाऽभावरूपस्य तस्य संस्कारप्रतिबन्धकतानुपपत्तिः। योगशब्दश्च युजिसमाधावित्यस्मान्निष्पन्नो न तु *"युजिर्योगे"*–इत्यस्मात् *"तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितमि"*त्यादिना भगवद्गीतासु वियोगस्यैव योगत्वप्रतिपादनात् स्यादेतत् चित्तवृत्तिनिरोधो योग एव कथं चित्तस्य चिन्तनैकवृत्तिकत्वात्तदीयचिन्तनैकवृत्तिनिरोधेऽपि तदितरसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायरूपवृत्तीनामनिरोधान्न हि चित्तवृत्तिमात्रनिरोध एव कस्यचिदमिभतो योगो व्युत्थानसाधारण्यादनिरुद्धसङ्कल्पादिवृत्तिमतामपि योगिनामिव ज्ञानदीप्तिप्रसक्तेश्च। तस्मान्न चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति साम्प्रतमिति प्राप्ते उच्यते–

चित्तपदेनात्रान्तःकरणसामान्यस्य महतोऽभिधानान्महांश्च प्रकृतेराद्यः परिणामस्स च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायचिन्तनात्मकवृत्तिचतुष्टयवानिति युक्तं तन्निरोधस्य योगत्वम्। न च महतो वृत्तिचतुष्टयात्मकत्वे, *"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशक"* इति साङ्ख्यकारिकायां मनसोऽहङ्कारस्य च महतः पार्थक्येनाभिधानात्तद्विरोध इति शङ्क्यम्। तत्र सर्ववृत्त्यङ्कुरीभूतमहतस्सङ्कल्पाभिमानात्मकवृत्तिरूपविशेषमादाय पार्थक्येनाम्नानादत एव क्वचिच्चतुष्टयं क्वचित् तृतयं क्वचिद्द्वितयमन्तःकरणं भाषन्ते शास्त्रकृतः। तथा चोक्तं वासिष्ठे–*"अहमर्थोदयो योऽयं चित्तात्मा वेदनात्मकः। एतच्चित्तद्रुमस्यास्य बीजं विद्धि महामते॥ एतस्मात् प्रथमोद्भिन्नादङ्कुरोऽभिनवाकृतिः। निश्चयात्मा निराकारो बुद्धिरित्यभिधीयते॥ अस्य बुद्ध्यभिधानस्य याङ्कुरस्य प्रपीनता। सङ्कल्परूपिणी तस्याश्चित्तचेतोमनोऽभिधेति"* तथाचात्र वाक्येऽहमर्थेनान्तःकरणसामान्यमभिधाय स्फुटास्तदीयाश्चित्ताद्यवस्थाभेदाः प्रदर्शिता इति युक्तं चित्तपदेनात्र प्रकृत्याद्यपरिणामस्य महत्त्वस्याभिधानं* तच्च त्रिगुणं प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् सत्त्वगुणं प्रकाशशीलत्वाद् रजोगुणं प्रवृत्तिशीलत्त्वात् तमोगुणं स्थितिशीलत्वात् सत्त्वगुणमैश्वर्यविषयप्रियं तद्देवादीनाम्। रजोगुणमस्थिरं तच्च दैत्यदानवादीनाम्। क्रोधद्वेषादिवृत्तिमत्तमोगुणं तच्च रक्षःपिशाचादीनाम्। नन्वेकमेव चेच्चित्तं कथमनेकावस्थम्भवेन्न ह्येकमनेकावस्थम्भवितुमर्हतीति चेत् सत्यम्; एकस्यापि चित्तस्य त्रिगुणनिर्मितत्वेन गुणानां वैषम्यादन्योन्यविमर्द–

---

* चित्तम्।

वैचित्र्येण विचित्रावस्थासम्भवात् सलिलवत्, यथैकस्यापि सलिलस्य स्वाश्रययावदुपाधिभेदनिबन्धनं सम्पद्यते वैचित्र्यमेवमेवैकस्यापि चित्तस्य विमर्दभेदनिबन्धनं वैचित्र्यम्।

अथ कीदृशं तच्चित्तं यदीयवृत्तिनिरोधो योगोऽभिहितः। मध्यमपरिमाणवदथाणु विभु वेति। अत्र साङ्ख्याः मध्यपरिमाणवदेव चित्तं तच्च सङ्कोचविकासशालिदेहाकारपरिमाणं घटगेहादिप्रदेशान्तर्वर्त्तिप्रदीपवत्तथाकार्यदर्शनाद् यथा दीपो घटगेहादिप्रदेशान्तरस्थो घटाद्गेहाद्वा न बहिरवभासयति, तथा चित्तमपि देहप्रदेशान्तर्वर्त्तिप्रमाणाभावाद्देहाद्बहिश्चित्तसद्भावेऽतश्चित्तमेव मातङ्गकुरङ्गभृङ्गादिदेहेषु सङ्कोचविकासौ सम्पद्येते घटप्रासादादिमध्यवर्त्तिप्रदीपवदितिसङ्कोचविकासशालिमध्यमपरिमाणवदेवचित्तमिति ब्रुवते॥

अपरे तु अणुत्वमेव चित्तस्य ज्ञानानां यौगपद्येनोत्पत्त्यसम्भवान्न हि ज्ञानानि युगपदुत्पत्तुमुत्सहन्ते येनास्थीयेत् चित्तस्य सङ्कोचविकासशालित्वान्मध्यमपरिमाणत्वं विभुत्वं वाऽन्यथा विरुद्धस्वभावयोः सुखदुःखयोरप्यनुभवस्य विरुद्धस्य युगपज्जननापत्तेः। न हि कदाचित् कोऽपि कथञ्चित्सुखदुःखे विरुद्धे सकृदेकक्षणेऽनुभवति विरुद्धत्वात्तद्विषयकानुभवयोस्तथा च सूत्रम् *"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गं"* मिति न चेदं विरुद्धमुच्यते युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते पादयोर्मे वेदना, शिरसि मे सुखमितिज्ञानयौगपद्यानुभवादिति– युगपत् क्षणोत्पत्तिकत्वप्रतिषेधात्–न हि वयं युगपदवस्थितिकत्वं ज्ञानानां वारयामोऽपितु युगपत्क्षणोत्पत्तिकत्वं तथा च न दोषः पादयोर्मे वेदना शिरसि मे सुखमिति भिन्नक्षणोत्पत्तिकयोरपि ज्ञानयोर्युगपदवस्थाने, महोत्पत्तिकत्त्वानुभवश्चातीवतीव्रवेगशालित्वाच्चित्तस्येतिपर्यायेणेन्द्रियैः संसृज्यमानमण्वेचित्तमित्यभिदधिरे॥ विभ्वेवचित्तंवृत्तिरेवास्य सङ्कोचविकासशालिनीतियोगाचार्यास्तत्र नाद्यश्चित्तस्य मध्यमपरिमाणवत्त्वेन सावयवत्वापत्त्या कदाचिद्विवेकख्यातेः प्रागपि घटादीनामिव विनाशित्वसम्भवात्। नापि द्वितीयश्चित्तस्याणुत्त्वे देहव्यापिज्ञानानुपपत्तिरित्यादिदोषप्रसक्तेरिति तृतीय एव सम्यगवशिष्यत इति चित्तवृत्तिनिरोधस्वरूपं योगमुक्त्वा तस्य द्वैविध्यमाह– "स" इति।

स चित्तवृत्तिनिरोधात्मको योगो द्विविधोऽसम्प्रज्ञातः सम्प्रज्ञातश्च। तत्रासम्प्रज्ञात एकविधो निर्बीजपदेनापि व्यपदिश्यते निर्गतं क्लेशकर्मादिबीजं

यत्रेति व्युत्पत्तेः। क्लेशकर्मादिबीजसहितत्त्वात्तु सम्प्रज्ञात सबीजपदव्यपदेश्यः। स च वितर्कविचारानन्दास्मिताभेदाच्चतुर्विधस्तत्र य इन्द्रियाण्यात्मबुद्ध्योपासते तेषां समाधिर्वितर्कः ये भूतादीन्येवात्मबुद्ध्योपासते तेषां विचारः। येऽभिमान-मेवात्मबुद्ध्योपासते तेषामानन्दः। ये बुद्धिमेवात्मबुद्ध्योपासते तेषामस्मिता। वितर्क्यन्ते रूपादिज्ञानसकरणकत्वानुमितिविषयीक्रियन्त इति वितर्काणीन्द्रि-याणि। विचरन्ति विशिष्य प्रवर्त्तन्ते व्यापृता भवन्तीन्द्रियाणि येषु तानि विचाराणि भूतानि—विशिष्येन्द्रियाणां चारस्य प्रवृत्तेर्व्यापारस्य भूताद्यात्मकविषय-देशदर्शनाद्युक्तं विचारत्वं भूतानाम्। सत्स्वपि विषयेषु तत्र निजाभिमानाऽभावे विशिष्यानन्दस्यानुदयादित्यभिमानपूर्वकत्वाद्विषयानन्दस्येत्यभिमानेऽप्युप-चरितानन्दशब्दप्रयोगसम्भवादानन्दोऽत्राभिमानः। पुरुषाविविक्तायां बुद्धावप्यस्मीति प्रत्ययविषयतासम्भवादित्यस्मिता बुद्धिस्तथा च विषयव्यपदेशमादाय विषयिसमाधीनां तथा व्यपदेशस्तस्मादिन्द्रियविषयो वितर्कः। भूतविषयो विचारः— अभिमानविषयश्चानन्दः—बुद्धिविषया चास्मितेति निष्पन्नं तथा च पर्य्यायेणोत्तरोत्तरसमापत्तिमतां क्रमशोऽधिकाधिकतराधिकतमानन्दलाभोऽपि सम्भवति सूक्ष्मत्वात् पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तरेषां तथा चोत्तरोत्तरस्य परत्वे श्रुतिः। *"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं* मनो मनसस्तु पराबुद्धि"*रिति स्मृतिश्च व्यक्तमेव दश-शतसहस्र-दशसहस्रमन्वन्तरभेदेनेन्द्रियादि-चिन्तकानामुत्तरोत्तरमानन्दन्दर्शयति। तद्यथा *"दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रिय-चिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वाभिमानिकाः। बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वरा"* इति अत एवाग्रे *"पूर्णं शतसहस्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्त-चिन्तका"* इत्यनेन प्रकृतिलयान् प्रतिचतुष्टयानुगताव्यक्तविषयसम्प्रज्ञातस्य पूर्णफलमभिधाय *"पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसङ्ख्या न विद्यत"* इति काल संख्याऽभावप्रतिपादनेन सर्ववृत्त्यभावरूपोऽसम्प्रज्ञातयोगः प्रदर्शित इति स्थितं चातुर्विध्यं सम्प्रज्ञातस्य॥

अथ बुद्धिबोधात्मा पुरुषो निरोधावस्थे चेतसि किं बोधाभावान्न

---

* मनःपदेनात्राहङ्कारो वेदितव्यः कारणेऽपि कार्यनिर्देशसम्भवस्य पटकारणतन्तुदाहे पटोदग्ध इत्यादौ दृष्टत्वात्—मनस एकादशेन्द्रियत्वस्वीकारे इन्द्रियेभ्य इति पूर्वोक्तेनापि गतार्थत्वसम्भवाच्च।

प्रकाशतेऽप्ययं वा गतो भवति जाड्यं वोपगतस्सन् वृत्त्या पुनश्चेत्यत आह–। "स्वरूपेति"।

स्वरूपावस्थितिर्द्रष्टुर्निरोधेऽपरिणामिनः।
व्युत्थाने वृत्तयो यद्वद् आत्मा तद्वदिहेष्यते॥४॥

न तदानीं जाड्यं गतो भवति, न वाऽप्ययं गतो भवति, नापि न प्रकाशते नापि जाड्यं गतः पुनर्वृत्त्या चेत्यते किन्तु स्वरूपावस्थित एव भवति। ननु किन्तत् स्वरूपं यत्र तस्यावस्थानमिति तद्विशेषणत्वेन तत् स्वरूपं सूचयति- "अपरिणामिन" इति। पुरुषोऽपरिणाम्यप्रतिसंक्रमोऽदर्शितविषयः शुद्धोऽनन्तश्चेति चित्तन्तु तद्विपरीतं परिणामि दर्शितविषयमशुद्धं सान्तं चेति भावः। ननु निरोधे स्वरूपावस्थितोऽपि सन् व्युत्थाने स्वरूपाच्च्युतो भवेदित्यत आह– "व्युत्थान" इति। नहि पुरुषो व्युत्थाने स्वरूपात्प्रच्यवतेऽपितु वृत्तिसारूप्यमधिगच्छति दर्शिविषयत्वात् स्फटिकवद्यथा स्फटिको जपाकुसुमसामीप्याज्जपाकुसुमसारूप्यम्भजत एवं बुद्धियुक्तः पुरुषोऽपि भजते तदीयवृत्तिभिर्व्युत्थाने तत्सारूप्यं येन कर्त्ताहमस्मि भोक्ताऽहमस्मीत्यभिमन्यते–इति न स्वाभाविकं पुरुषस्य वृत्तिमत्त्वम् तथोक्तं *"तस्मिंश्चिदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टय इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रूमा"* इति व्युत्थाने स्वरूपादप्रच्युत एव वृत्तिसारूप्यं लभते पुरुषोऽपरिमाणी॥

ननु वृत्तीनामानन्त्येन तन्निरोधासम्भवात्कथं वृत्तिनिरोधो योगः कथं वा पुरुषेण निरोद्धव्यास्ता इति नाम निर्देशपूर्वकं वृत्तीर्दर्शयति-"निद्रेति"।

निद्रास्मृतिविपर्यासाः प्रमाणं सविकल्पकम्।
वृत्तयः पञ्चतय्यः स्युः क्लिष्टाक्लिष्टात्मिकाश्च ताः॥५॥

आसां लक्षणन्त्वग्रे वक्ष्यति-पञ्चतय्य इत्यस्य च पञ्चप्रकारा इत्यर्थो न तु वृत्तिरूपोऽवयव्येकस्तदवयवा निद्रास्मृतिविपर्ययप्रमाणविकल्पाः पञ्चेति। तथा सति बहुवचनानुपपत्तेः। न च पुरुषभेदेन वृत्तिरूपावयविनां भिन्नतया बहुवचनोपपत्तिरिति युक्तम्। पुरुषाणामानन्त्येन वृत्तीनामनन्तत्वेऽपि परसमवेतानां तासां परस्य साक्षात्कारानुदयाद्वर्षसहस्रेण कदाचिदपि वा वृत्तिनिरोधानुत्पत्तेः। अथ माऽभूत् पुरुषभेदभिन्नानां परसमवेतानां वृत्तीनां निरोधः स्वीयवृत्तेस्तु स्यादयं निरोध इति चेत् सत्यम्-वृत्तिरूपावयविनामनेकत्वेऽपि स्वीयवृत्ति-

रूपावयविन एकत्वेन वृत्तीनामानन्त्यनुपपत्त्या स्वीयानन्तवृत्तिनिरोधमभिदधतो मूलकारस्य बहुवचनोपवर्णनासङ्गत्त्यापत्तेः। किञ्च पञ्चतय्य इत्यत्र तयपोऽवयवार्थकत्वमङ्गीकृत्य पुनः पुरुषभेदेन बहुवचनोपपादनं न सम्यगधिकल्पनापत्तेरवयवार्थकत्वस्वीकारेऽपि वृत्तिरूपैकावयविनः पञ्चावयवकल्पनेऽवयवान्तरशङ्काऽव्युदस्तेश्च। न हि हस्तपादद्वयं शरीरावयवावित्युक्तेऽवयवान्तरं नावगम्यत इति, एवं वृत्तेः पञ्चावयवा इत्युक्तेऽपि नावयवान्तरशङ्काऽपैति वृत्तीनामानन्त्येन तदीयेयत्ताप्रतिपादनप्रवृत्तस्य *"क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तय"* इति भाष्यस्यापि वैयर्थ्यम्प्रसज्येतेति नावयवपञ्चकवती वृत्तिरित्यर्थो युक्तोऽवयवानां प्रमाणादीनां तत्तद्व्यक्तिभेदतोऽनन्ततया, पञ्चत्वव्याहतेश्च जात्या पञ्चत्वप्रतिपादने तु निरुक्तं कलनागौरवमिति "पञ्चतय्य" इत्यस्य पञ्चप्रकारा इत्येवयुक्तोऽर्थ एवञ्च वृत्यन्तरशङ्काया अपि व्युदाससम्भवः प्रकारस्यात्र स्वव्याप्यतत्तद्धर्माश्रयतास्वरूपत्वात्—यथा दशविधा ब्राह्मणा इत्युदिते न ब्राह्मणत्वरूपदशधर्मवतां ब्राह्मणानां बोधोदयस्तदाश्रितब्राह्मणत्वरूपजातेरैक्यात्। किन्तु ब्राह्मणत्वव्याप्य तत्तद्धर्मवतां दशब्राह्मणानामिति न ब्राह्मणान्तरशङ्कोत्पद्यते। एवमेव वृत्तयः पञ्चतय्य इत्यत्र वृत्तित्वव्याप्यतत्तद्धर्माश्रयवृत्तिपञ्चकबोध उत्पद्यते नापि वृत्त्यन्तरसत्त्वशङ्कोदेतीति पञ्चप्रकारा वृत्तय इत्यर्थो वरीयान्–अतएव *"वृत्तयः पञ्चतय्याः क्लिष्टाक्लिष्टा"* इति योगसूत्रार्थमुपवर्णयन् भाष्यकारः *'पञ्चधा वृत्तय'* इति विवृतवान्न तु पञ्चावयववतीवृत्तिस्तदवयवा प्रमाणादयः पञ्चेति। निरुक्तनिद्रादिवृत्तीनां हेयत्वप्रतिपादनायाह- 'क्लिष्टेति'। क्लेशादिजनिकास्तामस्यो वृत्तयः क्लिष्टाः। सुखप्रकाशादिजनिकास्सात्त्विक्यो वृत्तयोऽक्लिष्टाः। तत्र क्लिष्टा अक्लिष्टाभिर्निरोद्धव्यास्ताः पुनः परवैराग्येण यद्यपि सर्वासामेव वृत्तीनामस्ति क्लिष्टत्वं पुरुषम्प्रति, तथापि सात्त्विकीनामक्लिष्टत्वाभिधानं तामसवृत्त्यपेक्षया। अथ राजस्यो वृत्तयः कुतो न निर्दिष्टास्तासामपि तामससात्त्विकवृतीनामिव पुरुषम्प्रतिक्लिष्टत्वादिति चेत्तासामपि क्लिष्टाक्लिष्टात्मकत्वात् क्लिष्टांशस्य तामसवृत्तिष्वक्लिष्टांशस्य सात्त्विक-

* यद्यपि विवेकख्यातिरपि सत्त्ववृत्तित्वेन शान्तासु वृत्तिष्वन्तर्भूतैव, तथापि पृथक्कीर्तनं ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन। यद्वा वृत्तीनामितिस्थाने वृत्त्यन्तराणामितिपाठो ज्ञेयः। विवेकख्यातिभिन्नवृत्तीनामिति तदर्थः।

वृत्तिष्वन्तर्भावेण पृथगनुपादानात्। *विवेकख्यातिरपि पुरुषं दुःखीकरोति का कथा शान्तघोरमूढात्मिकानां वृत्तीनामतः क्लिष्टास्सर्वा अपि वृत्तय ततश्च सिद्धं सर्वासां हेयत्वम्॥५॥

प्रमाणादिपञ्चवृत्तिषु प्रमाणवृत्तेर्ज्येष्ठत्वेन श्रेष्ठत्वाद्विपर्ययविकल्प-निद्रादिवृत्तीनामतिरिक्तत्वे वादिनां विप्रतिपत्तेश्चे त्यादौ प्रमाणवृत्तिं विभजते-"प्रत्यक्षादी"ति।

प्रत्याक्षादिप्रभेदेन प्रमाणं त्रिविधं मतम्।
विपर्ययात्मकं ज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्॥६॥

प्रमाणत्वमसन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषयकबोधरूपप्रमाकरणत्वम्। संशय-विपर्ययस्मृतिकरणेष्वतिप्रसङ्गवारणायोपात्तं बोधरूपप्रमांशे क्रमशो विशेषणत्रयम्। सामान्यविशेषात्मनाऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं यद्यप्यस्ति प्रत्यक्षमपि सामान्यावगाहि तथापि तस्य विशेषावधारणप्रधानत्वमेवोप-सर्जनत्वात् सामान्यम्प्रतिप्रत्यक्षस्य, तदेतद्द्विविधं प्रत्यक्षम्प्रत्यभिज्ञाऽभिज्ञा-भेदात्संस्कारसन्निकर्षोभयजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा यथा सोऽयं देवदत्त इति। विषयसम्बद्धेन्द्रियजन्यं ज्ञानमभिज्ञा यथायं घटोऽयं पट इत्यादि। लिङ्गज्ञानजन्यः सामान्याध्यवसायोऽनुमानं तदपि द्विविधं वीतावीतभेदात्। तत्रान्वयमुखेन वर्तमानं विधायकं वीतं, तदपि च द्विविधं पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टञ्च पूर्वगृहीत-व्यक्तिसामान्यविषयमनुमानं पूर्ववत्–यथा वह्नित्वसामान्यविषयमनुमानम्; तत्र वह्नित्वसामान्यव्यक्तिर्वह्निरूपा गृहीता प्रागप्यनुमितेर्महानसादाविति तद्विषय-मनुमानं पूर्ववत्। पूर्वागृहीतव्यक्तिसामान्यविषयमनुमानं सामान्यतोदृष्टम्; यथा रूपादिज्ञानकरणत्वसामान्यविषयमनुमानं न तत् पूर्वमनुमितेः कुत्रचिदपि गृहीतं, छिदिक्रियाकरणवास्यादौ करणत्वसामान्यस्य पूर्वं गृहीतत्वेऽपि न रूपादिज्ञानकरणवृत्तीन्द्रियत्वरूपं सामान्यं पूर्वं गृहीतमितिपूर्वागृहीतव्यक्ति-सामान्यविषयत्वादस्ति रूपादिज्ञानकरणत्वसामान्यविषयमनुमानं सामान्यतो-दृष्टम्। निषेधमुखेन प्रवर्त्तमानं सन्निषेधकमवीतं तच्चैकविधं शेषवदित्युच्यते यथा पृथिव्यामितरभेदानुमानमवयवावयविनोरभेदानुमानं चेत्युक्तमनुमानम्।

आगमस्त्वाप्तवचनं तज्जन्या तदर्थविषया वृत्तिश्च यथा गामानय शुक्लां दण्डेनेति लक्षितं त्रिविधं प्रमाणं तीर्थकारान्तरगृहीतप्रमाणान्तराणां

त्रिष्वेवान्तर्भावबोधनाय त्रिविधमित्युपन्यस्तं कारिकायाम्। विपर्ययस्वरूपमाह– "विपर्य्यये"ति। तल्लक्षणं च बाध्यमानं ज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्ताविदं रजतमितिप्रत्ययस्स च न प्रमाणं बाध्यमानत्वान्न हि बाध्यमानस्य प्रमाणता दृष्टा येन बाध्यमानस्यापि विपर्ययस्य स्यात्प्रमाणत्वं न हि प्रमाणोत्थघटादि-विषयको बोधः केनापि ज्ञानेन बाध्यते, यथा रजतविषयको बोधः स्वविरोधिनोत्तरोत्पन्नेन नेदं रजतमिति ज्ञानेन तस्मान्न प्रमाणं विपर्ययः। न च संशयस्येहानुक्तत्वाद्ग्रन्थन्यूनतेति शङ्क्यं संशयस्यातद्रूपप्रतिष्ठितत्वेन विपर्ययेऽन्तर्भावसम्भवाद् यद्यपि विकल्पोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठः पुरुषस्य चैतन्यस्वरूपतया चैतन्यासंसर्गित्वात्तेन च तदवगाहनात्तथापि विपर्ययोत्तरं तद्विरोधिज्ञानस्यापामरं प्रसिद्धत्वेन बाधव्यवहारसम्भवाद्विकल्पोत्तरं च तदभावा-दितिविकल्पोऽतद्रूतप्रतिष्ठोऽपि न विपर्ययप्रविष्टः सोऽयं विपर्यय एतन्मते-ऽविद्येत्युच्यते– *"तमोऽनित्येषु नित्यत्वप्रत्ययः परिभाष्यत"* इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्सांख्यमते तु नाविद्या विपर्यस्तैर्विवेकाग्रहस्यानादिवासनारूपस्या-विद्यात्वस्वीकारादिति व्याख्यातो विपर्ययः॥६॥

विकल्पमाह– "वस्तुशून्य" इति।

वस्तुशून्यो विकल्पः स्याज्जनकश्शब्दज्ञानयोः।
अभावप्रत्ययालम्बा वृत्तिर्निद्रेति कीर्त्यते॥७॥

यथा पुरुषस्य चैतन्यं प्रतिषिद्धवस्तुधर्मः पुरुष इत्यादिः पुरुषस्य चैतन्यस्वरूपत्वेन वस्तुधर्मप्रतिषेधात्मकाभावस्य पुरुषानतिरिक्तत्वेन च नास्ति, तद्विषयीभूतः पुरुषचैतन्ययोर्वस्तुतो भेदो वस्तुधर्माभावपुरुषयोराधा-राधेयभावश्चेति विकल्पो वस्तुशून्यः। अथ विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वे विपर्ययेऽन्तर्भावः प्रसज्येत न हि विपर्ययो नामास्ति कश्चित्सद्भूतवस्त्ववग्राही येन न तत्र विकल्पोऽन्तर्भवेत्; यथा विपर्ययोऽसद्भूतरजताद्यवगाही तथा विकल्पोऽप्यसद्भूतपुरुषचैतन्यभेदाद्यवगाही न विकल्पो विपर्ययादतिरिक्तः कश्चित्। यदि च शब्दज्ञानोभयजनकत्वं विकल्पलक्षणमुच्येत न वस्तुशून्यत्वम् तथापि नार्थान्तरत्वं विकल्पस्य शाब्दबुद्धिजनकवक्तृसमवेतार्थज्ञाने तस्यो*

---

* अन्तर्भावः।

पारोहसम्भवात्। अस्ति शाब्दबुद्धिजनकवक्तृसमवेतार्थज्ञानं शब्दज्ञानोभयजनकं न हि कश्चिदप्यर्थमनवबुध्य बुबोध वाक्यं प्रयुङ्क्ते कारणत्वाद्बुबोधयिषाधीनवाक्योच्चारणम्प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य, तस्माद्वक्त्रर्थज्ञाने विकल्पस्यान्तर्भावसम्भवेन विकल्पो नार्थान्तरम्। इति चेद् उच्यते न हि वस्तुशून्यत्वमात्रं शब्दज्ञानोभयजनकत्वमात्रं वा विकल्पत्वं ब्रूमहे येन स्याद्विपर्यये शाब्दज्ञानजनकवक्तृसमवेतार्थज्ञाने वा विकल्पस्योपारोहोऽपितु वस्तुशून्यत्वे सति शब्दज्ञानोभयजनकत्वम् तथा च शाब्दज्ञानजनकवक्तृसमवेतार्थज्ञाने वस्तुशून्यत्वस्य विपर्यये शब्दज्ञानोभयजनकत्वस्य च विरहेण न विकल्पस्य शाब्दज्ञानजनकवक्तृसमवेतार्थज्ञानविपर्ययोरुपारोहः। न चायं रजतत्वेन शुक्तिं जानातीति यदाऽभ्रान्तेनोक्तं श्रोत्रा च तथा प्रतिपन्नं तत्राभ्रान्तवक्तृसमवेतविपर्ययस्यापि शब्दज्ञानोभयजनकत्वे सति वस्तुशून्यत्वात्तादृशविपर्ययेऽतिप्रसक्तिर्विकल्पलक्षणस्येति वाच्यम्। अभ्रान्तवक्तृसमवेतविपर्यय? भिन्नविपर्ययमात्रस्य स्वविरोध्युत्तरज्ञानबाध्यत्वान्नायं विकल्पस्स्वविरोध्युत्तरज्ञानबाध्यस्तत्रोत्तरत्र बाधव्यवहारादर्शनाद्विपर्यये चोत्तरत्र बाधव्यवहारः सर्वानुभवसिद्ध इति विपर्ययतो वैलक्षण्यं विकल्पस्य, तथा च अभ्रान्तवक्तृसमवेतविपर्ययभिन्नत्वे सति वस्तुशून्यत्वे च सति स्वविरोध्युत्तरज्ञानाबाध्यत्वमिति विकल्पलक्षणस्य पर्य्यवसन्नत्वान्न दोषगन्धः कश्चित्। मूलोक्तशब्दज्ञानोभयजनकत्वं च विकल्पस्य स्वरूपनिर्देशमात्रपरन्न तु तल्लक्षणे प्रविष्टमधिकस्य वैयर्थ्यात्॥

निद्रास्वरूपमाह– "अभावे"ति। जाग्रस्वप्नवृत्तीनां योऽभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं यदज्ञानं तदालम्बना तद्विषया या वृत्तिः सा निद्रेत्यर्थः। तल्लक्षणञ्च प्रबुद्धप्रत्यवमर्शहेतुत्वम्। सुखमहमस्वाप्सं दुःखमहमस्वाप्सं गाढं मूढोऽहमस्वाप्समिति सत्त्वाद्युद्रेकभेदभिन्नस्य त्रिविधस्य प्रत्यवमर्शस्य प्रबोधे प्रबुद्धस्य सम्भवात्तद्धेतुत्वाच्च प्रत्ययविशेषत्वं निद्रायाः, न ह्ययं प्रबुद्धप्रत्यवमर्शोऽनुभवमन्तरेणोत्पत्तुमुत्सहतेऽनुभवहेतुकत्वात्प्रत्यवमर्शस्य तस्मादस्ति प्रत्ययविशेषत्वं निद्रायाः।

न च प्रमाणादिवृत्तीनां समाधिप्रतिपक्षिणीत्वान्निरोद्धव्यात्वेऽपि कथमेकाग्रावस्थातुल्याया निद्रायास्समाध्यप्रतिपक्षिणीत्वेन निरोद्धव्यात्वं स्यादितिवाच्यम्। एकाग्रावस्थातुल्यात्वेऽपि निद्रायास्तामसीत्वेन समाधिद्वयविरोधित्वात्–न हीयं

निद्रैकाग्रतुल्यापि समाध्यप्रतिपक्षिणी यतो बहुलतमस्विनी तमश्च मोहरूपत्वेन समाधिविरोधीति निद्रापि प्रमाणादिवृत्तिवन्निरोद्धव्या॥७॥

स्मृतेः प्रमाणादिवृत्तिजनितसंस्कारजन्यत्वेनेति प्रमाणादिवृत्त्यनन्तरं स्मृतिं दर्शयति– "स्मृती"ति।

स्मृतिवृत्तिरसम्मोषोऽनुभूतविषयस्य च।
रोधोऽभ्यासविरक्तिभ्यामेतासां योगिसम्मतः॥८॥

स्मृतिनिद्राविपर्यासा इत्यत्र स्मृतेः प्रथमोपादानं पितृपितामहादय इत्यत्र पितृपदोपादानमिव स्मृतेर्वृत्त्यन्तरपूर्वकत्वप्रदर्शनायाऽत एवाधिगतविषयावगाहिज्ञानं स्मृतिरनधिगतविषयविषयकञ्च वृत्त्यन्तरमित्यपि निष्पन्नम्। स्मृतिरूपं ज्ञानं द्विविधमुत्पादितस्मर्त्तव्यमनुत्पादितस्मर्त्तव्यं चेति। अत्रानुत्पादितस्मर्त्तव्यं सा मे मातेत्यादिकं ज्ञानम्। उत्पादितस्मर्त्तव्यञ्च स्वाप्निकगजाश्वरथादिविषकं ज्ञानं न हि तत्रत्यगजाश्वरथादयोऽनुत्पादिता भान्ति तदानीमेवोत्पादितत्वाद्गजाश्वरथादीनामित्युत्पादितस्मर्त्तव्यं तत्। न च स्वाप्निकगजाश्वरथादिविषयस्योत्पादितस्मर्त्तव्यज्ञानस्य विपर्ययत्वं युक्तमिति वाच्यम्। तस्यापि संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वाभ्युपगमात् स्मृतिरेवेदं स्वाप्निकं ज्ञानं न हि तत्राननुभूतगजाश्वादीनां भानमनुभूतगजाश्वादीनामेव तत्र भानात्। न च तस्य स्मृतित्वे गजोऽयमश्वोऽयमिति न स्यात्प्रत्ययाकारस्स्याच्च स गजस्सोऽश्व इति साम्प्रतम्। तत्र तत्तांशप्रमोषसम्भवात् प्रमुष्टतत्ताकाहीयं स्मृतिरतो न तत्तांशभानसम्भवः। यत्र पुनरप्रमुष्टतत्ताका स्मृतिर्भवत्येव तत्र स गजस्सोऽश्व इत्यपि भानं स्वाप्निकप्रत्ययस्थले च स्वप्नरूपदोषवशात्तत्तांशप्रमोषसम्भवे न स गजस्सोऽश्व इति नैव भानमत एवायमिति सन्निकृष्टताग्रहोऽपीतिस्मृतिरेव स्वाप्निकं ज्ञानं यदि च दोषस्योभयत्र हेतुत्वाननुभवाद्विपर्यय एव स्वाप्निकः प्रत्यय इत्युच्येत, तदा प्रमाणाभासे प्रमाणमिव विपर्ययस्वरूपे स्मृत्याभासे स्वाप्निके प्रत्ययेऽपि स्मृतिरितिव्यवहार उपपादनीयः। तत्तांशप्रमोषस्थलेऽपि स्मृतेरनुभूतविषयाधिकानवगाहित्वादनुभूतविषयाधिकानवगाहित्वं स्मृतित्वमित्यपि लक्षणं ज्ञेयं स्मृतेः। कारिकायां "*स्मृतिवृत्तिरसम्मोषोऽनुभूतविषयस्य चे*"त्यभिधानं वस्तुस्थितिप्रदर्शनार्थमप्रमुष्टतत्तांशकस्मृतिमात्रलक्षणं वेति चिन्तनाऽयम्॥ वृत्तिनिरोधात्मकयोगसिद्धये निरोद्धव्यवृत्तीः प्रदर्श्य सम्प्रति

तासां निरोधोपायमाह– "रोधोऽभ्यासे"ति। नात्र वैराग्याभ्यासयोर्विकल्पोऽभिमतोऽपितु समुच्चयः। वैराग्येण वृत्तीनां बहिर्मुखता विच्छेदः। अभ्यासेन चान्तर्मुखतासम्पादनेति तयोस्तत्र समुच्चय। योगिसम्मत इत्यत्र विशिष्य योगिपदोपादानं वृत्तीनां योगीतराऽनिरोद्धव्यात्वप्रदर्शनार्थम्॥८॥

अभ्यासमाह– "अवृत्तिकस्ये"ति।

अवृत्तिकस्य चित्तस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः।
तदर्थकः प्रयत्नो योऽभ्यसनं तत् प्रकीर्त्तितम्॥९॥

अवृत्तिकस्येत्यस्य राजसतामसवृत्तिशून्यस्येत्यर्थो न तु सर्ववृत्तिशून्यस्येति *"प्रशान्तवाहिता स्थिति"*रित्यनेन चित्तप्रशान्तवृत्तेरनन्तरमभिधानात्। प्रशान्तवाहिता च चित्तस्य सात्त्विकपरिणामप्रवाहेणावस्थानमन्यच्च स्पष्टम्। चित्तस्थित्यर्थं पौनःपुन्येन यत्नोऽभ्यास इति निर्गलितोऽर्थः। अथ राजसतामसवृत्तिशून्यत्वमेव चित्तस्यानुपपन्नं चित्तस्य राजसतामसवृत्तिस्वभावत्वेन तद्रहितत्वासम्भवान्न हि स्वभावस्यापायो दृष्टो न हि प्रततीष्ण्यस्वभावो वह्निः कदाचिदपि स्वभावादौष्ण्यात् प्रच्यवते नीरं वा स्वभावाच्छैत्यात्प्रच्यवते च लौहित्यात् स्फटिक इति न लौहित्यस्वभावः स्फटिकश्चित्तन्तु नैवं वृत्तिस्वभावता चास्य त्रिगुणनिर्मितत्वेन सर्वसिद्धेति न स्वभावापायो भवितुमर्हति तथा च साङ्ख्यसूत्रं *"स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रमाण्यमितिचेत्सत्यम्"*। न हि वयं स्वभावस्याप्ययं ब्रूमहे येन भवेत्त्वदुक्तशङ्कावकाशोऽपितु तिरोभावं स्वभावस्याप्यपायासम्भवेऽपि शक्यते, सोऽपि तिरोभावयितुं यथा जलवृत्तिशैत्यस्य स्वरूपतोऽपायासम्भवेऽपि वह्निसंयोगादिना भवति तस्य तिरोभावस्तथा चित्तसमवेतानां राजसतामसवृत्तीनामपि तिरोभावो नानुपपन्न इतिसिद्धं राजसतामसवृत्तिशून्यत्वं चित्तस्य। वृत्तिशून्यत्वं च वृत्त्यन्ताभाववत्त्वं वृत्त्यन्ताभावश्चित्तानरिक्तोऽभावानामधिकरणात्मकत्वात्। न चाभावानामधिकरणात्मकत्वे जलवृत्तिगन्धाभावस्य जलस्वरूपत्वेन जलस्य च घ्राणेन्द्रियेण ग्राह्यसम्भवात्तद्वृत्तिगन्धाभावस्य प्रत्यक्षत्वमाधाराधेयभावश्च न स्यादिति वाच्यम्। जलस्यापि घ्राणेन्द्रियेण ग्राह्यसम्भवात्–गन्धाभावानापन्नजलस्य घ्राणेन्द्रियाग्राह्यत्वेऽपि गन्धाभावापन्नजलस्य घ्राणग्राह्यत्वे क्षत्यभावादन्यथा जलगन्धाभावप्रतीत्योरविशेषप्रसङ्गादाधाराधेयभावश्च वने तिलका इतिवदुपपादनीय इतिसिद्धं

वृत्त्यन्ताभावस्य चित्तस्वरूपत्वम्॥९॥

तिरुक्ताभ्यासस्य दाढ्र्योपायमाह– "तत् पुनरि"ति।

तत् पुनर्दीर्घकालेन सत्कारासेवितं मुहुः।
दृढभूमिर्विरक्तिस्तु विषयेषु वितृष्णता॥१०॥

तदा पूर्वोक्ताभ्यसनपरामर्शः पुनरित्युत्पत्त्यनन्तरत्वमवगमयति। दीर्घ-कालेनेति दृढभूमीत्यनेनान्वयि। मुहुरिति नैरन्तर्यमवगमयति तथा च उत्पत्यनन्तरं नैरन्तर्येण सत्कारासेवितं तदभ्यसनं दीर्घकालेन दृढभूमि भवतीत्यर्थः। अयमभिसन्धिर्नैवम्भूतमभ्यासं कृत्वोपरमेतान्यथादीर्घकालप्रवासेन तिरोभवत्य-यमभ्यास इति नोपरन्तव्यमभ्यासात्। दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराणामत्र न विकल्पोऽभिमतोऽपितु समुच्चयोऽन्यथाकालदैर्घ्यनैरन्तर्य्याभ्यामन्तरेण सत्कार-मात्रेणापि भवेद्दृढभूमिरभ्यासः। वैराग्यं दर्शयति– "विरक्तिरि"ति। यद्यपि विरक्तेर्वृत्तिबहिर्मुखताविच्छेदहेतुतया प्रथमोपादानं युक्तमभ्यासस्य च वृत्त्यभ्यन्तरमुखतासाधनस्य पश्चात्तथापि तस्या दुस्साध्यत्वात्तद्विभाग-बाहुल्याच्चान्त उपादानम्। तल्लक्षणमाह– "विषयेष्वि"ति। दृष्टानुश्रविक-विषयतृष्णाराहित्यमिति तदर्थः। न च रोगग्रहग्रस्तस्यापि दृष्टानुश्रविक-विषयवैतृष्ण्यसम्भवात्तत्रातिप्रसक्तमेतदिति वाच्यम्। तस्य वैतृष्ण्यासम्भवात्– न हि रोगग्रहग्रस्तो विषयवितृष्णो भवति रोगग्रहनिवृत्त्यनन्तरं तत्काले वा तस्येच्छासत्त्वाद्विषयवैतृष्ण्यं च विषयेच्छाविरहस्स तु तस्य नास्तीति न तत्रातिप्रसक्तिः। न च तथाप्यप्राप्तविषयस्य विषयस्पृहाऽसत्त्वात्तदवस्थैवाति-प्रसक्तिरिति शङ्क्यम्। विषयसंयोगेऽपीत्यस्यापि लक्षणे निवेशनीयत्वात्। न ह्यप्राप्तविषयस्य विषयसंयोगेऽपि भवति स्पृहाविरहो यथा विरक्तस्येति विषयसंयोगेऽपि विषयवैतृष्ण्यमिति विरक्तिलक्षणं पर्य्यवसन्नम्॥१०॥ यतमानादिभेदेन विरक्तेश्चातुर्विध्यं ब्रवीति–"तस्या" इति।

तस्यास्सञ्ज्ञाश्चतस्रस्स्युर्यतमानादिभेदतः।
सा परा पुरुषख्यातेर्गुणेभ्यो या वितृष्णता॥११॥

तस्याः विरक्तेरित्यर्थः। यतमानादीत्यत्रादिना व्यतिरेकैकेन्द्रिय-वशीकाराणां परिग्रहः। चित्तवर्त्तिभोरागादिभिः कषायैरिन्द्रियाणि विषयेषु

प्रवर्त्तन्ते मा प्रवर्त्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिचर्यायां यत्नो यतमानसञ्ज्ञा– पक्वापक्वेष्विन्द्रियगणेष्वपक्वेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकावधारणं व्यतिरेकसञ्ज्ञा– सर्वाणीन्द्रियाणि पक्वानीत्यध्यवस्येन्द्रियाणामेकरूपतासम्पादनमेकेन्द्रियसञ्ज्ञा– दिव्यादिव्यविषयसम्प्रयोगेऽपि तत्र दोषपरिज्ञानादनाभोगात्मिका चित्तवृत्ति– र्वशीकारसञ्ज्ञा यद्यपि वशीकारसञ्ज्ञायामितरासां चारितार्थ्यं, तथापि तासां पृथक्कीर्त्तनं बुद्धिवैशद्यार्थमिति ध्येयम्। यतमानादिभेदभिन्नमपरवैराग्यं लक्षयित्वा सम्प्रति पुरुषदर्शनाभ्यासजनितं तदीयौत्कृष्ट्यं परेति सञ्ज्ञया व्यपदिशति "सापरे"ति। पुरुषख्यातेः पुरुषदर्शनात्। सा विरक्तिः। उत्कृष्टा सती परेत्युच्यते। औत्कृष्ट्यन्दर्शयति। "गुणेभ्य" इति। अयम्भावः दृष्टानुश्रविक– विषयवितृष्णस्य व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो गुणेभ्यो यत् पुरुषदर्शनाद्वैराग्यमुत्पद्यते तदुत्पद्यमानं सत्परमिति व्यपदिश्यत इत्युक्तं परापरभेदेन द्विविधं वैराग्यम्॥११॥

पूर्वं *"निर्बीजः प्रथमश्चैक"* इत्यत्र योऽसम्प्रज्ञातो निर्बीजपदेन व्यपदिष्टस्सम्प्रति तल्लक्षणस्वरूपे निर्दिशति– "विरामेति"।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वोऽन्यश्शिष्टवासनः।
विदेहाव्यक्तलीनानां समाधिर्भवकारणः॥१२॥

अन्य इति लक्ष्यनिर्देशः। सम्प्रज्ञातभिन्नोऽसम्प्रज्ञात इति तदर्थः। अन्य इत्यतः प्राक् परिशिष्टं लक्षणम्। शिष्टवासन इति तत् स्वरूप– निर्देशः। अवयवार्थस्तु विरमणं विरामो वृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः कारणं परवैराग्यं तस्याभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स पूर्वः कारणं यस्य सः। पर– वैराग्योपायकत्वमसम्प्रज्ञातत्वमितिपर्यवसन्नम्। भवति ह्यसम्प्रज्ञातो निर्वस्तुकः परवैराग्यजन्यो निर्वस्तुकत्वात्परवैराग्यस्य, तस्माद्युक्तः परवैराग्यासम्प्रज्ञातयोः कार्यकारणभावः। शिष्टवासनः संस्कारशेष इत्यर्थः। न चाग्रे *"संस्कारस्यापि संरोधे निर्बीजश्शास्त्रसम्मत"* इत्यनेन सकलसंस्कारनिरोधे सत्यसम्प्रज्ञात– स्वरूपस्य वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वापरग्रन्थविरोध इति शङ्क्यम्। अवस्थाभेदाश्रयेण विरोधाभावात्–नायं पूर्वापरविरोधो भवितुमर्हति–असम्प्रज्ञातपूर्वावस्थायां संस्काराणां शेषेऽपि चरमावस्थायां सुतरां तेषामभावाद्भवेत्तदाऽयं विरोधः पूर्वापरग्रन्थस्याभ्युपगच्छामश्चेत्सकलावस्थायां संस्कारशेषत्वं तन्निरोधं वेति न तद्विरोधः। स खल्वयं द्विविधस्समाधिरविद्याकारणकः श्रद्धाद्युपायपूर्वकश्चेति

तत्राविद्याहेतुको विदेहप्रकृतिलयानां समाधिरित्याह- "विदेहे"ति करणेषु लीनास्मन्तोदेहमन्तरेण य उपभुञ्जते, ते विदेहाः। अव्यक्तमेवात्मतयाभिमत्य तस्मिन् लीना य उपभुञ्जते तेऽव्यक्तलीनाः। भवत्यस्मिन् इति भवोऽविद्या स कारणं यस्य स इत्यर्थः। भवकारणमिति पाठे भवस्य संसारस्य कारणं हेतुरित्यर्थः॥१२॥

अन्येषां योगिनां श्रद्धाद्युपायपूर्वकस्समाधिरित्याह- "इतरेषा"मिति।

इतरेषां समाधिः स्याच्छ्रद्धाद्योपायपूर्वकः।
आसन्नस्तीव्रवेगानां समाधिस्तत्फलन्तथा॥१३॥

इतरेषां विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिनाम्। श्रद्धाद्योपायाः। श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपाः पूर्वे कारणानि यस्य स इत्यर्थः। न चात्र श्रद्धाद्युपायानां विकल्पो भवेत्तदा विकल्पः श्रद्धाद्युपायानां कुर्युश्चेत्ते परस्परमनपेक्षमाणा अपि समाधिं न हि श्रद्धाद्योपाया अन्योन्यनिरपेक्षास्मन्तः समाधिं कर्त्तुं क्षमन्ते, अन्यथा श्रद्धाद्येकैकोपायानुष्ठातृणामपि समापत्तिप्रसङ्गः। न हि श्रद्धाद्येकैकोपायानुष्ठातारस्समाहितचेतसो दृश्यन्ते, तस्मान्न विकल्पः श्रद्धाद्युपायानां समापत्तावपितु समुच्चयस्तथाहि-श्रद्धातो वीर्यं तस्मात्तु स्मृतिः स्मृतेश्च समाधिप्रज्ञा। ततश्च ते सर्वे सम्भूय जनयन्ति समाधिमिति समुच्चयः श्रद्धाद्युपायानां समाधौ। न च वाच्यं भूतेन्द्रियप्रकृतिचिन्तका अपि भवन्ति, श्रद्धावन्तो न ह्यश्रद्दधानाश्चिन्तानां प्रवर्त्तन्ते यदि न ते श्रद्दध्युर्न चिन्तायां प्रवर्त्तेरन्नित्यस्तिततत्समापत्तेरपि श्रद्धाद्युपायपूर्वकत्वमिति चेतस्सम्प्रसादरूपायाः श्रद्धाया अभ्युपगमात्। न हि वयमिच्छामात्रं विश्वासमात्रं वा श्रद्धां ब्रूमहे येनेच्छादिमात्रेण भूताद्यात्माभिमानिनां भूतादिचिन्तकानां भूतादिसमापत्तेरपिस्याच्छ्रद्धाद्युपायपूर्वकत्वं, किन्तु चेतस्- सम्प्रसादं स चाभिरुचिस्सा च भूतादिचिन्ताजनितसुखेच्छापरिहारेणात्मसुखेच्छा न चैतादृशः सम्प्रसादो भूतेन्द्रियप्रकृतिचिन्तकानां भूताद्यात्माभिमानित्वात्तेषामसम्प्रदीहि स व्यामोहजनकत्वादिति न भूतादिचिन्तकानां समापत्तिः श्रद्धाद्युपायपूर्विका श्रद्धाकृतनिर्वचना। वीर्यमङ्गानुष्ठानोत्साहः। स्मृतिरनुष्ठिताङ्गाविस्मरणम्। समाधिप्रज्ञा विवेकज्ञानम्। अथ न श्रद्धाद्युपायानामुपायत्वं सम्यक् प्रतीयते भवेयुर्यदि सम्यक् श्रद्धादयो योगोपायास्तदा सर्वेषामेव श्रद्धाद्युपायानुष्ठातृणां भवेत्समाना सिद्धिः न हि

सर्वे समानसिद्धयो भवन्ति च केचिदासन्नसिद्धयोऽपरे चासन्नतरसिद्धयोऽन्ये चासन्नतमसिद्धय इति सिद्धि- वैषम्यदर्शितत्वात् श्रद्धादीनां सम्यगुपायत्वमित्यत आह- "आसन्न" इति। वेग-उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्। उपायानुष्ठानशैघ्र्यवतामासन्नस्समाधिर्भवतीत्यर्थः। वेगावैराग्यमिति केचित्। अयमभिसन्धिः- आसन्नासन्नतरासन्नतमत्वभेदभिन्ना- स्त्रिविधा योगिनो मृदुमध्यतीव्रभेदेन नवविधा भवन्ति, तद्यथा मृद्वासन्नवान् १ मध्यासन्नवान् २ तीव्रासन्नवान् ३ मृद्वासन्नतरवान् ४ मध्यासन्नतरवान् ५ तीव्रासन्नतरवान् ६ मृद्वासन्नतमवान् ७ मध्यासन्नतमवान् ८ तीव्रासन्नतमवान् ९ मृदुत्वादयो विशेषाश्चोपायगतमृदुत्वादि प्रयोज्या इत्युपायवैचित्र्यात् सिद्धिवैचित्र्यं, ततश्च श्रद्धाद्युपायकत्वेऽपि न सर्वेषां समाना सिद्धिः॥१३॥

समाधेरन्यान् विशेषान् सूचयितुमाह- "मृद्वि"ति।

मृदुमध्याधिमात्रत्वाद्विशेषास्स्युस्ततोऽपि च।
ईश्वरप्रणिधानाद्वाऽऽसन्ने समाधितत्फले॥१४॥

मृदुमध्याधिमात्रभेदैरुपायानां भेदात्तदनुष्ठातृयोगिनामपि भेदाः भवन्तीति फलितोऽर्थः। तथाहि- मृदुमृद्वासन्नवान् १ मध्यमृद्वासन्नवान् २ अधिमात्रमृद्वासन्नवान् ३ मृदुमध्यासन्नवान् ४ मध्यमध्यासन्नवान् ५ अधिमात्रमध्यासन्नवान् ६ मृद्वधिमात्रासन्नवान् ७ मध्याधिमात्रासन्नवान् ८ अधिमात्राधिमात्रासन्नवान् ९ मृदुमृद्वासन्नतरवान् १० मध्यमृद्वासन्नतरवान् ११ अधिमात्रमृद्वासन्नतरवान् १२ मृदुमध्यासन्नतरवान् १३ मध्यमध्यासन्नतरवान् १४ अधिमात्रमध्यासन्नतरवान् १५ मृद्वधिमात्रासन्नतरवान् १६ मध्याधिमात्रासन्नतरवान् १७ अधिमात्राधिमात्रासन्नतरवान् १८ मृदुमृद्वासन्नतमवान् १९ मध्वमृद्वासन्नतमवान् २० अधिमात्रमृद्वासन्नतमवान् २१ मृदुमध्यासन्नतमवान् २२ मध्यमध्यासन्नतमवान् २३ अधिमात्रमध्यासन्नतमवान् २४ मृद्वधिमात्रासन्नतमवान् २५ मध्याधिमात्रासन्नतमवान् २६ अधिमात्राधिमात्रासन्नतमवान् २७ इतिभेदेन सप्तविंशतिविधा योगिनो भवन्तीत्युक्तः श्रद्धाद्युपायपूर्वकः समाधिः। उपायान्तरमाह- "ईश्वरे"ति। ईश्वरप्रणिधानात्। ईश्वरभक्तिविशेषात्। समाधिस्तत्फलञ्च भवतीत्यर्थः। प्रणिध्यायमानः परमेश्वर इदमस्य भवत्विति सङ्कल्पमात्रेणानुगृह्णाति न व्यापारान्तरेणेति ततस्समाधिस्तत्फलं च क्षिप्रं योगिनो जायत इति

तात्पर्य्यम्॥१४॥

अथ कोऽयं प्रधानपुरुषेभ्योऽतिरिक्त ईश्वरीयत्प्रणिधानात् समाधितत् फलयोरासन्नत्वमुच्यत इत्यत आह- "अपरामृष्टमिति"॥

अपरामृष्टमेवाहुर्विपाकैः क्लेशकर्मभिः।
ईश्वरं पुरुषं प्राज्ञा वासनाभिस्तथैव च॥१५॥

विपाका जात्यायुर्भोगाः कर्मफलानि त्रीणि। क्लेशाः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च कर्माणि शुक्लकृष्णशुक्लकृष्णाशुक्लकृष्णानि चत्वारि वासनाः विपाकानुगुणाः संस्काराः। एभिः अपरामृष्टमसम्बद्धं रहितं पुरुषमेव प्राज्ञाः बुद्धिमन्तो योगविदः। ईश्वरम्। आहुर्वदन्तीत्यर्थः। तल्लक्षणं च त्रैकालिकबन्धशून्यत्वं बन्धशून्यत्वमात्रोक्तौ मुक्तप्रकृतिलयेष्वतिव्याप्तिरितित्रैकालिकत्वं बन्धविशेषणं, तथा च मुक्तेषु भूतबन्धस्य प्रकृतिलयेषु भाविबन्धस्य च सत्त्वात् न तत्रातिव्याप्तिरीश्वरस्य तु त्रैकालिकबन्धशून्यत्वात्तत्र लक्षणसमन्वयः। ते हि न त्रैकालिकबन्धविरहिणो भवितुमर्हन्ति क्लेशादिसंसर्गित्वान्न हि प्रागनन्तरं सम्प्रति वा क्लेशाद्यैः परामृष्टास्त्रैकालिकबध्यशून्या स्तथा—च मुक्तानां भूतो बन्धः प्रकृतिलयानां च भाव्यऽस्मदादीनां तु त्रैकालिक एवेति न बन्धविरहिणो भवन्तीश्वरव्यतिरिक्ता बद्धा मुक्ताश्च न चेश्वरव्यतिरिक्तपुरुषाणामप्यसङ्गत्वश्रुतेर्नास्ति कदाचिदपि क्लेशादिपरामर्शरूपो बन्ध इति साम्प्रतम्। असङ्गिन्यपि पुरुषे बन्धव्यपदेशसम्भवात्-यथा योद्धृपुरुष गतौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्येते, तथा मनोगतोऽपि तत्स्वामिनि पुरुषे व्यपदिश्यते बन्धः। युक्तश्चैतादृश एव बन्धस्तस्य निवृत्तिसम्भवान्न हि स्वाभाविको बन्धः पुरुषे भवितुमर्हस्तस्य निवृत्त्यसम्भवान्न हि स्वभावात्कश्चिदपसरति न हि वह्निस्स्वभावमौष्ण्यं जहाति यदि स्यात् पुरुषाणां स्वाभाविको बन्धस्तर्हि कश्चिदपि न मुच्येदिति न स्वभाविको बन्धः। अथ यस्य नास्ति स्वाभाविको बन्धस्स किम्प्रतिक्षेत्रमेकाऽनेको वेति वक्तव्यं नैको भवितुमर्हति प्रतिक्षेत्रं तस्मिन्नेकस्मिन्नभ्युपगम्यमान एकस्यान्धत्वे भवेयुस्सर्वेऽन्धा बधिरत्वे च बधिराः म्रियमाणे चैकस्मिन् सर्वे भवेयुर्मृताजायमाने च जाता इति नैतद् दृश्यते तस्मान्नैकः प्रतिक्षेत्रं पुरुष इत्यनेकत्वपक्ष एव निर्दुष्टत्वात् परिशिष्टः। न च वाच्यमेक एव पुरुषः प्रतिक्षेत्रम्—

उपाधिभेदेनापि नानात्वव्यवहारसम्भवादिति उपाधिभेदस्य नानात्वव्यवहाराप्रयोजकत्वान्न हि किरीट कुण्डलाद्युपाधिभेदेन देवदत्तो नाना भवति नाना चेत्स्यात्किरीटाद्युपाधिविगमे नायं देवदत्त इत्यपि व्यवहारस्स्यान्नायं व्यवहारस्सम्भवति तस्मान्नोपाधिभेदेन पुरुषनानात्वम्।

ननु प्रधानादिपञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनसम्मतानि कथं षड्विंशः क्लेशकर्म्माशयैरपरामृष्टः परमेश्वर उच्यत इति चेन्न संसाराङ्गारेषु तप्यमानानां प्राणभृतामनुग्रहार्थं षड्विंशतत्त्वस्य परमेश्वरस्य स्वीकारात्—न हि संसाराङ्गारेषु भृशमुपतप्यमानाः प्राणभृतः परमेश्वरानुग्रहमन्तरेण द्राक्तापान्*व्यासेद्धुं क्षमन्ते तेनानुग्राहकतया परमेश्वरः स्वीक्रियते, स च स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसम्प्रदायप्रवर्त्तकः संसाराङ्गारपरितप्यमानप्राणिवर्गानुग्राहकश्चातोऽस्तिषड्विंशः परमेश्वरः। न च पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य पुरुषस्य ताप एव नास्ति कथं तदनुग्राहकतया परमेश्वरोऽभ्युपगम्येतेति, तापकस्य रजसस्सत्त्वमेव तप्यं बुद्ध्यात्मना परिणमत इतिसत्त्वे तप्यमाने तमोवशेन तदभेदग्राहिणः पुरुषस्यापि तापसम्भवात्तथा चोक्तं भगवता पतञ्जलिना *"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुभवती"*ति तथा च शुद्धोऽपि पुरुषो बौद्धं प्रत्ययमनुपश्यन्न तदात्मापि तदात्मक इव भासते इति परितप्यमानपुरुषस्य परमेश्वरप्रणिधानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्चक्लेशास्समूलकाषं कषिता भवन्ति कुशलाकुशलाश्च कर्माशयास्समूलघातं हता भवन्ति। ततश्च पुरुषस्य पुष्करपलाशवन्निर्ल्लेपस्य बौद्धप्रत्ययानुकारिताम्परित्यज्य स्वरूपेण कैवल्यात्मनावस्थानमित्यावश्यकः प्रणिधात्रनुग्राहकः षड्विंशः परमेश्वरः। षड्विंशतितत्त्वानि च प्रकृतिर्महदङ्कारौ एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि पञ्चमहाभूतान्याकाशादीनि पुरुषपरमेश्वरौ चेति लक्षितः परमेश्वरः॥१५॥

एवमीश्वरस्वरूपमभिधाय तत्सिद्धयेऽनुमानं दर्शयति— "अतीतानागते" ति।

---

* दूरीकर्त्तुम्।

अतीतानागतज्ञानं वर्द्धमानं क्रमादपि।
स्यान्निरतिशयं यत्र स सर्वज्ञ उदाहृतः॥१६॥

अल्पं बह्विति क्रमाद्वर्द्धमानमिदमतीतानागतविषयकं ज्ञानं यस्मिन्निरतिशयं समाप्ततारतम्यं भवेत्स सर्वज्ञ ईश्वर उदाहृतः। न च वाच्यं वर्त्तमानविषयक-ज्ञानाग्रहणान्न तस्य तारतम्यं कुत्रचित् समाप्नोतीति, स्थूलयाहिवर्त्तमान-विषयकज्ञानतारतम्यस्य सुप्रसिद्धत्वेन तस्येह कण्ठतोऽनिर्वचनात्। यदि चातीन्द्रियविषयकवर्त्तमानज्ञानस्य नास्तिस्थूलग्राहित्वं तद्विषयस्यातीन्द्रिय-पदार्थस्य स्थूलत्वाभावादिति तदग्रहणात्तदवस्थादोष इत्युच्यतेतदाऽतीता-नागतेत्यस्योपलक्षणत्वेन वर्त्तमानस्यापि ग्रहणात् न दोषस्तथा चातीतानागत-वर्त्तमानविषयाणां क्रमतस्समुच्चयेन वा ग्रहणं यस्मिन् समाप्नोति, स सर्वज्ञ ईश्वर इतिस्थितम्। तथा चानुमानं ज्ञानतारतम्यं क्वचिल्लब्धसमाप्तिकं सातिशयत्वात्-परिमाणतारतम्यवत्। यथा परिमाणतारतम्यं वर्द्धमानं सद्गनादौ विश्राम्यति तद्वद्यत्र वर्द्धमानं तारतम्यं विश्रान्तं सोऽस्मदादीनां बाधादीश्वरस्सर्वज्ञो भवितुमर्हति। इतरविशेषबाधनिश्चयलाघवप्रतिसन्धानवशेन व्यापकतानवच्छेद-कीभूतधर्मावच्छिन्नविधेयताकानुमितेरपि सर्वसिद्धत्वादिति सर्वज्ञेश्वरसिद्धिः॥१६॥

अथैतेनानुमानेनाष्टाङ्गयोगप्राप्तैश्वर्यः कश्चिद्योगी हिरण्यगर्भो वा सेत्स्यतीत्यत् आह- "स"इति।

स कालेनानवच्छेदात् पूर्वेषान्तु गुरुर्मतः।
वाचकः प्रणवस्तस्य तदर्थभावनं जपः॥१७॥

न ह्यष्टाङ्गयोगप्राप्तैश्वर्यो योगी हिरण्यगर्भो वाऽनेनानुमानेन सेद्धुमर्हति हिरण्यगर्भादीनामपि तदनुग्रहेणैश्वर्यप्राप्तिश्रुतेर्न हि तस्यास्ति कस्यचिदनुग्रहेणैश्व-र्यप्राप्तिस्स्वतस्सिद्धज्ञानैश्वर्यबलसम्पन्नत्वात्साम्यातिशयातीतत्वाच्च तथा च श्रुतिः *"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया चे"*ति स्मृतिश्च- *"पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्। न त्वत्समोस्त्य-भ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमस्वभाव"*इति। स एव कालेनानवच्छेदात् सर्वज्ञस्स्वतस्सिद्धैश्वर्यो न हि स केनचिदप्यवच्छिद्यते कालेन दिशा वा, अवच्छिद्यन्ते हि हिरण्यगर्भादयः कालादिनेति न कालाद्यवच्छिन्नास्सर्वज्ञेश्वरा

भवितुमर्हन्ति ते। अत एव स हिरण्यगर्भादीनां गुरुर्यद्यवच्छिन्द्यादमुमपिकालस्तसि सर्वज्ञोऽपि सन् कथं हिरण्यगर्भादीनां भवेद्गुरुरिति न हिरण्यगर्भादयस्सर्वज्ञास्स्वतस्मिद्वैश्वर्या वा यतस्तेषु ज्ञानतारतम्यविश्रान्तिस्स्वीक्रियेत निरुक्तानुमानेनेतिचतुरचेतस एव चेतसि चातुर्य्येण विचारयन्त्यितिचतुरस्रम्। तद्वाचकं शब्दमाह- "वाचक" इति। तस्य सर्वज्ञेश्वरस्य वाचको योऽयमोङ्कारस्तेनाहूतो भगवान् सत्वरं प्रणिधानमात्रेणैवानुगृह्णाति प्रणिध्यायिनं तस्मादोङ्कारजप एव तदर्थस्येश्वरस्य भावनम्॥१७॥

सर्वज्ञसर्वेश्वरकालाद्यनवच्छिन्नपरमगुरोरीश्वरस्यैव वाचकः प्रणवशब्द इत्यभिधाय सम्प्रति निरुक्तेश्वरप्रणिधानस्यान्तरायापगमे प्रत्यक् चेतनाधिगमे चोपायत्वं निर्दिशति- "अभावश्चे"ति।

अभावश्चान्तरायाणां स्वरूपाधिगमोऽप्यतः।

सोऽत्रावधारणे भिन्न क्रमश्च "अत" इत्यस्यानन्तरमन्वेति ईश्वरप्रणिधानादेव व्याधिप्रभृतीनामन्तरायाणां निवृत्तिस्सम्भवति नोपायान्तरात्। न चोपायान्तरमन्तरायानुच्छेत्तुमीष्टे येन नेश्वरप्रणिधानमपेक्ष्येत उपायान्तरस्य तन्निवर्त्तकत्वेऽपि न तन्निवृत्ता अन्तरायायोगोत्पत्तौ क्षमन्ते उपायान्तरनिवृत्तानामन्तरायाणां पुनरप्युत्पादसम्भवात् न हीश्वरप्रणिधाननिवृत्ता अन्तरायास्समुत्सहन्ते पुनरुत्पत्तुमितीश्वरप्रणिधानमेवान्तरायापायक्षमम्। न च वाच्यमीश्वरप्रणिधाननिवृत्तानामप्यन्तरायाणां स्यान्नामपुनरुत्पाद इति, योगाङ्गानुष्ठानजनितविवेकख्यातिप्रनष्टमूलकत्वेन तेषां पुनरुत्पादासम्भवान् न हि प्रनष्टमूलको ह्युत्पद्यतेऽतिप्रसङ्गात्तस्मान्नोपायान्तरप्रनष्टान्तरायवत्प्रणिधानप्रनष्टान्तरायाणामुत्पादसम्भवः। न चोपायान्तरप्रणाश्यान्तरायाणामपि योगाङ्गानुष्ठानजनितविवेकख्यात्यग्निना दाहसम्भवात्तेषामपि पुनरनुत्पत्तिस्समानैवेति वाच्यम्। स्वीकृतत्वात्- योगाङ्गानुष्ठानजनितविवेकख्यात्यग्निदग्धमूलकत्वेऽपि तेषामीश्वरप्रणिधानसमनन्तरयोगाङ्गानुष्ठानजनितविवेकख्यात्यग्निदग्धमूलकत्वेन सततमुपकारकत्वात्-न हि यथेश्वरप्रणिधानसमनन्तरयोगाङ्गानुष्ठानजनितविवेकख्यात्यग्निदग्धबीजभावानामन्तरायाणामुपकारकत्वं तथेतरोपायप्रनष्टानामितियुक्तमीश्वरप्रणिधानस्यैव समूलव्याधिप्रभृत्यन्तरायनाशकत्वम्। अतः अस्मादीश्वरप्रणिधानात्। स्वरूपस्य प्रत्यक् चेतनस्य अधिगमः साक्षात्कारोऽपि

सम्भवतीत्यर्थः।

अथ विरुद्धमिदमुच्यत ईश्वरप्रणिधानात् स्वरूपाधिगमो भवति प्रणिधानाधिगमयोरेकविषकत्वदर्शनान्न ह्यन्यविषयकं प्रणिधानमन्याधिगमायालं भवत्यन्यथा स्यान्मैत्रविषयकप्रणिधानेनापि चैत्राधिगमस्तस्मादीश्वराप्रणिधानस्य स्वरूपाधिगमोपायत्वम्। न च मा भूदीश्वरप्रणिधानं स्वरूपाधिगमोपायोपमानेन तज्ज्ञानं भविष्यत्येव यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाय-मप्यात्मेति वाच्यम्। उपमानस्यैवाऽसिद्ध्या तेन पुरुषोपमितेरसम्भवात्। किन्तदुपमानं येन पुरुषावगम उच्यते किं सादृश्यस्मरणं किं वा सादृश्यानुभवः नाद्यस्तद्धं सप्रत्यक्षयोरपि तज्जन्यत्वेनोपमितित्वापत्तेः। द्वितीयश्चेत्—किं सादृश्यप्रत्यक्षमुपमानमुतसादृश्यानुमितिराहोस्वित्साट्टश्योपमितिः सादृश्यबोधो वा तत्राद्ये कीदृशं तद्यदुपमानत्वेनाभिमतं चक्षुरादीन्द्रियसंसर्गिणि गवये गोसादृश्यप्रत्यक्षमिति चेत्तर्हि गवये गोसादृश्यं गवि च गवयसादृश्यं भिन्नमभिन्नं वा भिन्नमिति चेत्? न; तत्सादृश्यम्भवितुमर्हति भूयसामवयवानां समानसंसर्ग एव सादृश्यं स चेद्गोगवययोर्भिन्नः कथं सादृश्यं भवेदिति सादृश्यसम्पत्तये समान एव वक्तव्यस्समानश्चेत्कथं तद्विषयं ज्ञानमुत्पद्यमानं भिन्नं भवेदिति यद्गोगवययोस्सादृश्यप्रत्यक्षं तदेकमेव वाच्यं तथा च तादृशप्रत्यक्षानन्तरं गवयोऽयमितिवद्गोरप्युपमितिः स्यान्न हि तादृशसादृश्यप्रत्यक्षानन्तरं गवयोऽय-मितिवद्गोरप्युपमितिः। कस्यचिदभिमता येन गवयोपमितिवद्गोरप्युपमितिः स्वीक्रियेत, तादृशप्रत्यक्षस्योपमितिकरणत्वाङ्गीकारे च गवयोपमितिवद्-गोरुपमितिरप्यावश्यकीति न गवये चक्षुस्सन्निकृष्टे गोसादृश्यप्रत्यक्षमुपमानम्। नापि सादृश्यानुमितिरुपमानं सा च गवयो गोसदृशय इत्याकारैव वाच्या न सोपमानं भवितुमर्हति। तद्धं सप्रत्यक्षयोरप्युपमितित्वं प्रसङ्गात्। किञ्च गवयमपश्यतोऽपि पुरुषस्य गोसादृश्यानुमितिसम्भवेन तदनन्तरमप्युप-मितिस्स्यान्नैतद्धवितुमर्हति गोसादृश्यानुमितेर्व्याप्तिग्रहपूर्वकत्वेनेति तदनन्तरमेव गोदृशो गवय इति ज्ञानसम्भवात् कृतमनुमित्यात्मकेनोपमानेन। नाप्युपमिति-रुपमानम्। तस्यास्स्वात्मकोपमितिम्प्रतिकरणत्वे आत्माश्रयः। उभयोरन्योन्यम्प्रति-करणत्वेऽन्योन्याश्रयः करणभूतोपमितेरप्युपमित्यात्मककरणत्वाङ्गीकारे तस्याप्युपमित्यन्तरं वक्तव्यमित्यनवस्था प्रसज्येत न च करणभूतोपमितेर्न

करणमुपमित्यन्तरमन्यद्वेष्यत इत्यपि शक्यं वक्तुं तथासत्युममितेः सकरणात्व-व्याघात इति नोपमितिरप्युपमानम्। नापि सादृश्यबोधस्योपमानत्वं तस्य च शक्तपदजन्यतया गोसदृशो गवयपदवाच्य इति शक्तिग्रहकाल एव गवयबोधसम्भवादितिव्यर्थं सादृश्यबोधस्योपमिति करणत्वमिति न तद्बोधोऽप्युपमानम्। उपमानासिद्धौ च कथमुपमानेन पुरुषाधिगमसम्भवः। अत्रोच्यतेनान्यतरमात्रविषयकं चिन्तनमन्यतरमात्रसाक्षात्काराय भवतीति ब्रूमः, किन्तु सामानार्थानुचिन्तनं समानार्थान्तरसाक्षात्कारायेति एकशास्त्राध्यास इव सदृशार्थकशास्त्रान्तरबोधायेतीश्वरप्रणिधानं भवति पुरुषसाक्षात्कारायेति न निरुक्तो भवत्ययं दोषः। चेत्स्यातामीश्वरपुरुषावत्यन्तविधर्माणौ भवेत्तदायं दोषो न ह्यत्यन्तविधर्माणावीश्वरपुरुषौ सम्मतौ कस्यापि, अत्यन्त-विधर्मिणोरन्यतरार्थानुतिचिन्तनन्तु न तदितरस्य साक्षात्कारायालमितिसर्व-सम्मतम्। तस्मात्सिद्धमीश्वर प्रणिधानस्य पुरुषाधिगमहेतुत्वम्। न च वाच्यमस्ति चैत्रमैत्रयोरपि पुरुषत्वेन सादृश्यमितिचैत्रप्रणिधानेनापि मैत्रसाक्षात्कारस्स्यादिति, तादृशधर्मेण सादृश्यमभिदधतः प्रमेयत्वादिना घटादेरपि पुरुषसादृश्यसम्भवाद् घटप्रणिधानेनापि पुरुषाधिगमः प्राप्नोतीति सादृश्यमात्रस्य तत्राकिञ्चित्करत्वं न च सादृश्यमात्रस्याकिञ्चित्करत्वे कथं समानशास्त्राभ्यासन्यायेनेश्वर-प्रणिधानस्य प्रत्यक्चेतनाधिगमहेतुत्वसम्भव इतिवाच्यम्। स्वसमान-जातीयस्वोत्कृष्टप्रविधानाभ्यासयोरेव समानजातीयान्तरावगमकत्वात्। न हि चैत्रोमैत्रसमानजातीयस्सन्नपि मैत्रादुत्कृष्टो भवितुमर्हति दुःखित्वादिना साम्यात्तस्मान्न चैत्रप्रणिधानमीश्वरप्रणिधानमिव मैत्राधिगमं निर्वर्त्तयितुमीष्टे। ईश्वरप्रणिधानं चेष्टे प्रत्यक्चेतनमधिगमयितुमीश्वरस्य पुरुषसमानजातीयत्वेन निर्दुःखत्वादिना तदुत्कर्षात्। एवं स्वोत्कृष्टस्वसमानजातीयशास्त्राभ्यासस्यापि समानजातीयशास्त्रान्तरबोधकत्वं सिद्धं, दृश्यते खलु चैवं लोके स्वोत्कृष्ट-स्वसमानजातीयशास्त्राभ्यासतत्परा एव शक्यन्ते समानजातीयं शास्त्रान्तर-मवगन्तुमितिसम्यगुक्तमीश्वरप्रणिधानस्य प्रत्यक्चेतनाधिगमहेतुत्वं, न च वाच्यमीश्वरप्रणिधानेन मुक्तविषयप्रणिधानेनापि स्वरूपाधिगमप्रसङ्गस्तेषाम-पीश्वर इव स्वोत्कृष्टत्वात्; इष्टापत्तेः। इष्टं चैतदस्माकं यथेश्वरप्रणिधानस्य स्वरूपाधिगमहेतुत्वमेवमेव मुक्तप्रणिधानस्यापीयान् परोऽनयोर्विशेष ईश्वर-प्रणिधानस्य साक्षात्स्वरूपाधिगमकत्वमुक्तप्रणिधानस्य तु मनः स्थितिरूपद्वारेणै-

वेत्यमुमेवार्थमभिप्रयन् सूत्रयांचकार भगवान् पतञ्जलिरपि-"*वीतरागविषयं वा चित्तमि*'ति। ईश्वरप्रणिधानस्यान्तरायापगमकत्वं स्वरूपाधिगमकत्वञ्चाभिधाय सम्प्रति समाधेरन्तरायान्दर्शयति-"व्याधिरिति"-

व्याधिस्त्यानप्रमादाश्च संशयो भ्रान्तिदर्शनम्॥१८॥

आलस्याविरतौ चैवं भूम्यलाभानवस्थितौ।
नवेते चित्तविक्षेपा योगिनां योगबाधकाः॥१९॥

तत्र व्याधिर्नाम धातुवैषम्यनिबन्धनमस्वास्थ्यम्। तेषां साम्ये स्वास्थ्यदर्शनात्-साम्यञ्चात्र शरीरधारणक्षमत्वरूपमभिमतमन्यथा शरीरधारणस्यैवासम्भवात्सुस्पष्टञ्चैतचरकादिनिबन्धेष्विति विशेषस्तत एव विज्ञेयः। स्त्यानं चित्तस्याकर्म्मण्यता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यं प्रमादः। संशयः-उभयकोटिस्पृग् ज्ञानम्-भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययः-कायचित्तयोर्योगाङ्गविषयप्रवृत्तिप्रतिबन्धकस्तमः परिणामविशेषः आलस्यम्। अविरतिर्विषयेष्वाभङ्गः भूम्यलाभः-समाधिभूमीनां मधुमत्यादीनामप्राप्तिः। एते नवविक्षेपास्तदूबाधनार्थं प्रणवादिपवित्रमन्त्राणां जपः कर्त्तव्यः यतश्चैते न योगबाधका भवेयुः॥१८-१९॥

सम्प्रति विक्षेपसहोदरान्दर्शयति- "प्रश्वासेति"।

प्रश्वासश्वासदुःखानि दौर्मनस्याङ्गवेपथू।
भवन्ति क्षिप्तचित्तस्य विक्षेपसोद्भवास्त्विमे॥२०॥

कोष्ठगतवातस्य बहिर्निस्सरणं प्रश्वासः। तस्यैव पुनराचमनं श्वासः। अननुकूलवेदनीयं दुःखं सुखप्रतिद्वन्द्विभावविशेषः। तच्च त्रिविधमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदात्। तत्राधिदैविकं नाम यज्ञराज्ञसग्रहाद्यावेशजनितम्। आधिभौतिकं च पशुपक्षिसरीसृपस्थावरजनितम्। तदेतद्द्विविधं दुःखं बाह्योपायजनितम्भवति। आध्यात्मिकं दुःखन्त्वान्तरोपायसाध्यम्-आन्तरोपायाश्च वातपित्तश्लेष्मकामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादसंशयाः। कामेच्छाविषयाप्राप्तौ चित्तसन्तापः क्रोधः विषयलाभेऽपि चेतसोऽसन्तोषो लोभः। विपर्ययज्ञानं ज्ञानव्यतिरेको वा मोहः विषयविशेषदर्शननिबन्धनं चेतसोऽनवस्थानम्। आगामिदुःखोत्प्रेक्षणं वा भयम्। परोत्कर्षासहनमोर्षा। अविज्ञातहेतुकश्चिन्ताविशेषोविषादः। संशयः पूर्वमुक्तः। एतदान्तरोपायसाध्यमाध्यात्मिकं दुखं

द्विविधं शरीरं मानसं चेति शारीरं वातादिवैषम्यनिबन्धनं मानसं कामोर्षादिजनितं यद्यपि सर्वं दुःखं मानसमेव तथापि मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां तद्विभागः। यद्वा अध्यात्मञ्चक्षुरादिकमिन्द्रियम्–अधिभूतं तदधिष्ठानं गोलकम्–अधिदैवं तदभिमानिन्यो देवताः। एतद्वैकल्यनिबन्धनं दुःखमाध्यात्मिकादिभेदेन त्रिविधमुच्यते। इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभो दौर्मनस्यम्। अङ्गवेपथुरङ्गेषु कम्पा- यतश्चेमे प्रश्वासादयः विक्षेपसहोदरा अतो विक्षिप्तचित्तस्यैवेते भवन्ति, न समाहितचित्तस्येति विक्षेपबाधनार्थं योगिना द्राग्यतितव्यम्॥२०॥

अभ्यास विषयोपसंहारव्याजेन समाधिप्रतिपक्षविक्षेपप्रतिक्षेपोपायमाह– "विक्षेपेति"।

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनम्।
चित्तमेवाभ्यसेद्योगी सौहार्द्यादींश्च भावयेत्॥२१॥

यथा चैते विक्षेपा न स्युरतो योगिनैकस्मिन्नभिमते तत्त्वे चित्तमभ्यस्तव्यम्। विक्षेपप्रतिक्षेपोपायमुपन्यस्य चित्तप्रसादोपायमभिधत्ते। "सौहार्द्यादींश्चेति"। आदिनाऽव्यवहितोक्तकारिकापठिताः करणामुदितोपेक्षा गृहीतव्याः॥२१॥ भावनक्रमन्दर्शयति- "सौहार्दीमिति"।

सौहार्दीं सुखयुक्तेषु करुणां दुःखितेष्वपि।
मुदितां पुण्यशीलेषूपेक्षामपुण्यकर्मसु॥२२॥

स्पष्टम्॥२२॥

ननु भावनायाश्चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वेन स्वविरोधिवृत्त्यनुदयपर्यन्तं कथञ्चित्प्रसादजनकत्वेऽपि स्वनिरोधानन्तरन्तदजनकत्त्वात् कथं प्रसादोपायत्व- मित्यत आह–"एवमिति"।

एवं भावयतस्तस्य धर्मः शुक्लाऽभिजायते।
प्रसीद्धि ततश्चित्तमेकाग्रमवतिष्ठते॥२३॥

अयमाशयः वृत्तिविशेषरूपाया भावनाया अस्थिरात्वेऽपि तज्जनितस्य प्रसादजनकस्यातिशयविशेषस्य चरमफलपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमेन तद्द्वारा- भावनाया अपि प्रसादहेतुत्वसम्भवादिति भावनायां प्रसादोपायत्वमक्षतम्॥२३॥

प्रकारान्तरेण चित्तस्थितिमाह–साधयेदिति।

साधयेत् प्राणवायोर्वा प्रच्छर्दनविधारणे।
स्याद्विषयवती जाता प्रवृत्तिस्स्थितिकारणम्॥२४॥

कोष्ठगतस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्बहिष्करणं प्रच्छर्दनं कोष्ठगतस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्निरोधो विधारणम्। न च प्राणस्य शरीरान्तस्सञ्चारिवायु-विशेषरूपत्वेन तत्प्रच्छर्दनविधारणयोः कथं मनस्स्थितिसम्पादकत्वं मनसाऽसम्बद्धत्वात् प्राणस्य, न ह्यसम्बद्धः प्रवृत्तये स्थितये वा कल्पते तस्मान्न प्राणप्रच्छर्दविधारणयोमनस्स्थितिनिबन्धनत्वमितिवाच्यम्—अन्तःकरण-वृत्तित्वाभ्युपगमात्—न हि वयं प्राणं वायुविशेषं मन्यामहे येन तत्प्रच्छर्दन विधारणयोर्मनस्स्थितिनिबन्धकत्वन्न स्यादपि तु चित्तसामान्यवृत्तितद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् तथा च प्राणस्य चित्तवृत्तिसामान्यरूपत्वेन तत्र सम्बद्ध-त्वात्तत्प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां मनस्स्थितिर्न विरुद्धा स चैकोऽपि स्थानभेदात् प्राणादिव्यपदेशभाग् भवति। तत्र प्राणिनासाग्रहन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः। अपानः कृकाटिका पृष्ठपादपायूपस्थपार्श्ववृत्तिः। समानो हृन्नाभि सर्वसन्धिवृत्तिः। उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्द्धभ्रूमध्यवृत्तिः व्यानस्त्वग्वृत्तिः। तथाचोक्तम्- *"हृदि प्राणो गुदेऽपानस्समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानस्सर्वशरीरगः"*। न चात्रैकैकस्थाननिर्देशात् प्रत्येकं प्राणादीनामनेकस्थानकथनमनुचितमिति, विशेषस्थानाभिप्रायेणैवैकैकस्थानस्यात्र सङ्कीर्त्तनात्—न च प्राणवायोश्चित्तसामान्य-वृत्तित्वस्य वृद्धानभिमतत्वेन त्वयैव कल्पितं सामान्यवृत्तित्वमिति वाच्यम्—वृद्धैरप्येवं प्रणयनात् तथाचोक्तमीश्वरकृष्णैः। *"स्वालक्षण्यं वृत्तित्रयस्यैषा भवत्यसामान्या॥ सामान्यकरणवृत्तिः प्राणादयो वायवः पञ्चे"*ति विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्नामनसस्स्थितिनिबन्धनी भवति विषया रूपरसगन्धस्पर्शशब्द विषयतया विद्यन्ते यस्यास्सा-प्रकृष्टा वृत्तिः प्रवृत्तिस्साक्षात्कारो न तु यत्न-विशेष इत्यर्थः। तथाहि-तालुनि धारयतोऽस्य यो दिव्यरूपसाक्षात्कारस्स रूपप्रवृत्तिः। रसनाग्रे धारयतोऽस्य यो दिव्यरससाक्षात्कारस्सरसप्रवृत्तिः। नासिकाग्रे धारयतोऽस्य यो दिव्यगन्धसाक्षात्कारस्सगन्धप्रवृत्तिः। रसनामध्ये धारयतोऽस्य यो दिव्यस्पर्शसाक्षात्कारस्य स्पर्शप्रवृत्तिः।

रसनामूले धारयतोऽस्य यो दिव्यशब्दसाक्षात्कारस्य शब्दप्रवृत्तिः। एतेन मणिचन्द्रादिविषयाः प्रवृत्तयोऽप्युपलक्षिता बोध्याः। नन्वेतासां प्रवृत्तीनां

रूपादिविषयविषयकत्वेन कथं मनस्स्थितिनिबन्धनीत्वं रूपादिविषयकप्रवृत्तीनां मनःप्रवर्त्तकत्वदर्शनादिति चेन्न; अदिव्यरूपादिविषयावगाहिनीनां वृत्तीनां प्रवर्त्तकत्वेऽपि धारणादिजनितदिव्यरूपादिविषयकप्रवृत्तीनां प्रवर्त्तकत्वानभ्युपगमात् प्रत्युतैतासां स्थालीपुलाकन्यायेन शास्त्राचार्योपदिष्टेष्वपवर्गादिषु सुसूक्ष्मपदार्थेषु प्रत्यायकत्वेन संशयविधमनद्वारा समाधिप्रज्ञायां द्वारीभूतत्वात्। भवेत्तदैतासां प्रवृत्तीनां प्रवर्त्तकत्वं चेन्न स्युरिमास्समाधिप्रज्ञायां द्वारीभूता इति नैतासां प्रवर्त्तकत्वम्॥२४॥

हृदयपुण्डरीके धारयतोऽस्य योगिनो भास्वराद्धि सत्त्वे स्थितिवैशारद्या प्रवृत्तिरुत्पद्यते, सा विशोकाभास्वरबुद्धिसत्त्वविषयत्वात् सैव ज्योतिषमत्युच्यते सापि मनसः स्थितिनिबन्धनीत्याह "ज्योतिष्मतीति"।

ज्योतिष्मती विशोका वा चित्तं वा वीतरागगम्।
स्वप्ननिद्रावलम्बं वा ध्यायेद्वा तत्त्वमीप्सितम्॥२५॥

चित्तस्थितेरुपायान्तरमाह– चित्तमित्यादिना वीतो निवृत्तो रागस्सक्तिर्येषां ते वीतरागा वामदेवशुकादयस्तद्गतद्विषयं कथन्ते मुक्ताः केनोपायेन मुक्तास्तद्वन्मयाप्यभ्यस्तव्यमित्येवं रूपं परित्यक्तविषयाभिलाषं वा चित्तं स्थितिनिबन्धनं भवति। बाह्यसकलवृत्तिपरित्यागेन चेतसोऽभ्यन्तरवाहिता स्वप्नः। निद्रा प्रसिद्धा, तदवलम्बनं वा चित्तं स्थितिनिबन्धनं भवति। यथाऽभिमते बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे वा नाडीचक्रादौ ध्यायमाने चेतः स्थितिपदं लभते। ननु *"विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनमि"*त्यनेन प्रागपि यथाभिमतैकतत्त्वावलम्बनस्योक्तत्वेनात्रापि पुनस्तत्कीर्त्तनात्पौनरुक्त्यमितिचेन्न पूर्वमेकतत्त्वावलम्बनस्य विक्षेपप्रतिक्षेपार्थकतयोक्तत्वेनेह चित्तस्थैर्यहेतुत्वाभिधानान्न पौनरुक्त्यम्–यद्वा तत्र विक्षेपप्रतिक्षेपार्थमेकस्मिन्नीश्वरतत्त्वे–एव भावनाऽत्र तु यस्मिन् कस्मिंश्च बाह्येऽभ्यन्तरे वेति पूर्वोक्तवैलक्षण्यं विविधविषयवासना विचित्रितचेतसा प्रथमत ईश्वरविषयप्रणिधानासम्भवेन यथाभिमते वस्तुनि स्थैर्याभ्यास उक्तः–अभ्यस्तस्थैर्येण तु चेतसा सुकरमीश्वरप्रणिधानं ततश्च सुकरस्यसमाधिलाभोऽप्यसद्विषयानुध्यानस्य समाधिलाभानुपायत्वादिति-भावः॥२५॥

भावनफलं दर्शयति– "परमाण्विति"–

परमाणुमहत्त्वान्तो वशीकारोऽस्य जायते।

चित्तस्थैर्यम्भावयतोऽस्य योगिनस्सूक्ष्मभावनद्वारेण परमाणुपर्यन्तो वशीकारः, स्थूलभावनद्वारेण च परममहत्त्वान्तो वशीकारो जायते सोऽयं वशीकारः परापरभेदेन द्विविधः स्थूलसूक्ष्मोभयभावनद्वारेण, परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे आकाशादिपर्यन्ते स्थूले च चेतसोऽप्रतिघातस्स परोवशीकारः। एकस्यां स्थूलकोटौ सूक्ष्मकोटौ वा चेतसोऽप्रतिघातस्सोऽपरोवशीकारः। यद्वा स्थूलभावनद्वारेण यश्चेतस्स आकाशादिस्थूलेऽप्रतिघातस्सोऽपरोवशीकारः। सूक्ष्मभावनद्वारेण परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे योऽप्रतिघातश्चेतसस्स परोवशीकारः। तद्वशीकारादभ्यस्तं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासमपेक्षते येन योग्यभ्यासार्थं पुनरभ्यासोपाये प्रयतेतेत्युक्तो वशीकारः। नन्वेवं स्थितं चित्तं किमाकारम्भवतीत्यत आह– "अभिजात" इति।

अभिजातो मणिर्यद्वच्चित्तं तद्वदिहेष्यते॥२६॥

क्षीणवृत्ति ग्रहीत्रादि रूपभेदेन भासते।

क्षीणाः–प्रत्यस्तमिता नष्टा वृत्तयो प्रत्यया ज्ञानानि यस्य चेतसस्तत्। अयं भावः। यथा स्वच्छः स्फटिको मणिर्नीलपीतरक्तकुसुमोपाधिवशान्नीलाद्याकारेण भासते एवं क्षीणवृत्तिचित्तमपि ग्रहीतरि पुरुषे ग्रहणे-इन्द्रियादौ ग्राह्येषु भूतेषु समापन्नं सत् तत्तदाकारेण भासते तद्यथा ग्राह्यसमापन्नं सद्ग्राह्याकारेण भासते ग्रहणसमापन्नं सद् ग्रहणाकारम्भवति। ग्रहीतरिसमापन्नञ्च ग्रहीत्राकारम्भवतीति॥ पूर्वं सबीजसमाधेर्वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतभेदेन चातुर्विध्यं प्रदर्शितं सम्प्रति तस्यास्सवितर्क निर्वितर्कसविचारनिर्विचारभेदांश्चतुरो दर्शयति–सङ्कीर्णेति।

सङ्कीर्णा यैव शब्दार्थज्ञानविकल्पकैस्सह॥२७॥

सवितर्का समापत्तिरर्थमात्रावभासिका।
परा स्वरूपशून्येव स्मरणपरिशोधने॥२८॥

विभक्तानां गवादिशब्दार्थज्ञानानां याऽविभागप्रत्ययः स विकल्पः। विकल्प एव विकल्पक इति स्वार्थे कन् प्रत्ययः। ज्ञानं बुद्धिवृत्तिः। अर्थो जात्यादिः। शब्दस्तद्वाचकं पदम्। तथा चायमर्थः शब्दार्थज्ञानानां ये विकल्पकाः

शब्देऽर्थविकल्पकः। अर्थे च शब्दविकल्पः। शब्दे च ज्ञानविकल्पकः। ज्ञाने च शब्दविकल्पकः। अर्थे ज्ञानविकल्पकः। ज्ञाने चार्थविकल्पकः। एभिर्विल्पकैस्सह सङ्कीर्णा सम्भिन्ना मिलिता या समापत्तिस्समाधिः सा सवितर्केत्यर्थः।

गौरितिशब्दः। गौरित्यर्थः। गौरितिज्ञानम्–इतिविभक्तगोपदत्वगोपद–वाच्यत्वधर्माणां गोशब्दगवार्थगोज्ञानानां योऽयं गौरित्येकाकारेण सङ्कीर्णग्रहीयस्यां समापत्तौ विद्यते सा सवितर्का समापत्तिरितिभावः। स्मरणस्य शब्दार्थज्ञाना–विभागप्रत्ययस्य परिशोधने निवृत्तौ स्वरूपशून्या इव स्वे शब्दज्ञाने तयो रूपे वाचकत्वसविषयकत्वधर्मौ ताभ्यां शून्या रहिता इव। अर्थमात्रस्य ग्राह्यपदार्थ–मात्रस्य अवभासिका प्रकाशिका या समापत्तिः सा परा निर्वितर्केत्यर्थः। यस्यां समापत्तौ शब्दार्थज्ञानानां विकल्पप्रत्ययो न भवति किन्तु शब्दः शब्दत्वेन रूपेण अर्थोऽर्थत्वेन रूपेण ज्ञानं ज्ञानत्वेन रूपेण भासते सा निर्वितर्का समापत्तिरितिभावः। यद्यपि निर्वितर्कसमाधौ शब्दार्थज्ञानानां सर्वेषां स्वधर्मं पुरस्कारेण भानं तथापि समाधीनामर्थेष्वेव प्रकृतत्वेनार्थमात्राव–भासिकेत्यत्र मात्रपदोपादानम्।

एतत्तुल्यन्यायेन सविचारनिर्विचारे निर्दिशति। "सविचारेति"।

सविचारा सुसूक्ष्मार्था निर्विचारा तयैव च।
व्याख्याताऽलिङ्गपर्यन्ता सूक्ष्मविषयता मता॥२९॥

तथाचेत्थमक्षरयोजना तया सवितर्कया निर्वितर्कया, च सविचारा निर्विचारा च सुसूक्ष्मविषया समापत्तिर्व्याख्याता सुसूक्ष्मा अर्था विषया यस्यास्सा। पूर्वोक्तायास्यवितर्काया निर्वितर्कायाश्च स्थूलविषयतापि दर्शिता भवति विशिष्यात्र सुसूक्ष्मार्थेत्युपादानात् तथा चात्राप्येवं विभागः। यस्यां समापत्तौ सूक्ष्मा विषयाः शब्दज्ञानविकल्पानुविद्धाः सन्ति सा सविचारा यस्यां चैते न विकल्पानुविद्धाः सा निर्विचारा के सुसूक्ष्मा अर्था ये सविचारनिर्विचारयोर्विषया इत्याह– "अलिङ्गेति"। न क्वचिल्लीयते न किञ्चिल्लिङ्गेति गमयति वेत्यलिङ्गं प्रधानम्। नन्वस्ति प्रधानमप्यात्मनोलिङ्ग–मिति न किञ्चिल्लिङ्गति गमयतीति व्युत्पत्त्या कथमलिङ्गं प्रधानमिति चेन्न अत्रालिङ्गप्रतियोगिनि लिङ्गपदार्थेऽन्वयिकारणानुमापकत्वस्य विवक्षितत्वात्तथा च

प्रधानं नान्वयिकारणानुमापकमकारणकत्वात् पुरुषस्तु न तदन्वयिकारणमितित-दनुमापकत्वेऽपि प्रधानस्य नालिङ्गत्वक्षतिरिति। तत्पर्यन्ता सूक्ष्मविषयताऽ-भिमतेत्यर्थः। तन्मात्राहङ्कारमहत्प्रकृतयः सूक्ष्मा विषया इति भावः। तेष्वपि च गन्धतन्मात्राद्रसतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयस्तस्माच्च रूपतन्मात्रं तस्माच्च स्पर्शतन्मात्रं तस्माच्च शब्दतन्मात्रं तेभ्यश्चाहङ्कारस्तस्माच्च महान् महतः प्रकृतिरित्युत्तरोत्तरक्रमेण सूक्ष्मविषयता न चास्ति प्रधानादुत्तरः पुरुषस्तस्यापि सूक्ष्मत्वेन अलिङ्गपर्यन्ता सूक्ष्मविषयतेत्यभिधानमयुक्तमिति वाच्यम्–तत्त्वान्तरोपादानस्यैवात्र सूक्ष्मविषयत्वेनाभिमतत्वात् नहि वयमुत्तरत्वमात्रेणैव सूक्ष्मविषयतां ब्रूमो येन पुरुषस्यापि प्रकृतेरुत्तरत्वमात्रेण सूक्ष्मविषयताऽऽपद्येत किन्तु तत्त्वान्तरोपादानत्वेन पुरुषस्य च तत्त्वारोरापादानत्वाभावान्न सूक्ष्मत्वं तस्मादातम्मात्रेभ्यः प्रधानपर्यन्तैव सूक्ष्मविषयता स्थिता तेषामेव तत्त्वान्तरो-पादानत्वात् तद्यथा तन्मात्राणि भूतानामाकाशादीनामुपादानानि तेषाञ्चाहङ्कारस्तस्य च महान् तस्य च प्रधानमिति एतेन भूतेन्द्रियादीनां सूक्ष्मविषयता पराकृता द्रष्टव्या तेषां तत्त्वान्तरानुपादानात्। उक्त समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह–"ता एवेति"।

ता एवाहुः सबीजं च समाधिं योगवित्तमाः।

ताः पूर्वोक्ताश्चतस्रस्सवितर्कनिर्वितर्कसविचारनिर्वचारसमापत्तिः। बीजेन क्लेशेन सह बीजेनावलम्बेन वा सह वर्त्तते सबीजस्सम्प्रज्ञात-समाधिस्तमित्यर्थः। पूर्वोक्तास्सवितर्कादिसमापत्तयस्सम्प्रज्ञातसमाधिरेवेत्यभि-प्रायः।

तिसृणां सवितर्कनिर्वितर्कसविचाराणां निर्विचारफलकत्वान्निर्विचारायाः फलमाह– "निर्विचारेति"।

निर्विचारसमापत्तेर्वैशद्यं जायते यदा॥३०॥

तदाऽध्यात्मप्रसादस्स्यात् प्रज्ञा तत्र ऋतम्भरा।

यदा निर्विचारायास्समापत्तेः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशद्यं नैर्मल्यं जायते तदाऽस्य योगिनोऽध्यात्मप्रसादो भवतीत्यर्थः। वैशद्यञ्च रजस्तमोभ्यामनभि-भूतबुद्धिसत्त्वस्य स्थितौ दार्ढ्यम्–समुत्पन्नेऽध्यात्मप्रसादे चित्तवैशद्यफलं

दर्शयति–"प्रज्ञेति"। प्रज्ञा यथाभूतवस्त्ववगाही स्फुटालोकः। ऋतं सत्यं विभर्त्ति कदाचिदपि न विपर्ययादिभिराच्छाद्यते या सा ऋतम्भरा तस्मादृतम्भरात्मकस्फुटालोकात्सर्वं यथावत्पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगमाप्नोति। ऋतम्भराप्रज्ञायां श्रुतानुमानाभ्यां वैलक्षण्यं दर्शयति– "श्रुतेति"।

श्रुतानुमानबुद्धिभ्यामितरार्थावलम्बिनौ॥३१॥

विशेषार्थतया तज्जस्संस्कारोऽन्यप्रबन्धकः।
संस्कारस्यापि संरोधे निर्बीजश्शास्त्रसम्मतः॥३२॥

॥इति योगमकरन्दे समाध्याख्यः प्रथमः पादः॥

श्रुतं च अनुमानं चेति श्रुतानुमाने ताभ्यां जनिते बुद्धी श्रुतानुमानबुद्धी ताभ्यामित्यर्थः। इयम्–ऋतम्भरा प्रज्ञा इतरार्थस्य विशेषस्यापि अवलम्बिनी विषयिणी यतस्ते बुद्धी सामान्यमात्रविषये इयं च निर्विचारवैशद्यसमुपेता ताभ्यां विलक्षणविशेषविषयत्वात् अनया हि सूक्ष्मा व्यवहिता विप्रकृष्टाश्च विषयाः स्फुटमवभासन्ते इतरार्थावलम्बिनीत्यनेन श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामस्या विशेषदर्शनेऽपि वक्ष्यमाण कारिकास्थ विशेषार्थतयेति पदेन प्रत्यक्षादपि ऋतम्भराप्रज्ञाया विशेषो दर्शितः। यतः प्रत्यक्षमपि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तूनि नावगाहते इयं च तदवगाहिनीति प्रत्यक्षादपि विलक्षणा। ऋतम्भराप्रज्ञायाः फलमाह– तज्ज इति। तस्या ऋतम्भराप्रज्ञाया जनितः संस्कारः। अन्यान् व्युत्थानसंस्कारान् प्रतिबध्नातीत्यर्थः विशेषार्थतयेत्यस्यार्थस्य पूर्वमुक्तत्वेऽपि अत्रापि तदन्वयेनैवमर्थोऽवगन्तव्यः। ऋतम्भराप्रज्ञाया अन्यप्रज्ञाभ्यो विशेषविषयत्वेन तज्जनित एव संस्कारो व्युत्थानसंस्कारप्रतिबन्धको नत्वन्यन्यप्रज्ञाजनितस्तथा च ऋतम्भराप्रज्ञाजनितसंस्कारेण सति व्युत्थानसंस्कारप्रतिबन्धे न पुनर्व्युत्थानप्रज्ञासंस्काराणामुत्पत्तिः। इदानीं मुख्यसम्प्रज्ञातसमाधिमाह–"संस्कारस्येति"। ननु ऋतम्भराप्रज्ञाजनितसंस्कारस्य व्युत्थानसंस्कारनिरोधकत्वेऽपि सम्प्रज्ञातसंस्काराणामनिरुद्धत्वात्कथं निर्बीजस्समाधिरिति चेन्न; असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातस्यापि व्युत्थानरूपत्वेन तत्संस्काराणामपि तेनैव निरोधसम्भवात्। अथ ऋतम्भराप्रज्ञाजनितसंस्कारस्य केन निरोध इति चेन्न; असम्प्रज्ञातोत्पत्त्यैव तन्नाशसम्भवात्। चरमशब्दवत् स्वोत्तरवृत्तित्वविशिष्टस्य स्वस्यैव वा स्वनाशकत्वादितिसर्वसंस्कारनिरोधे भवति निर्बीजस्समाधिर्यत्र

पुरुषः शुद्धस्सन्स्वरूपेऽवतिष्ठते न च पूर्वमसम्प्रज्ञातसमाधेः संस्कार-शेषत्वाभिधानादत्र तु तस्यैव सकलसंस्कारनिरोधानन्तर्यकथनात्पौर्वा-पर्यासङ्गतिरिति वाच्यम्। अवस्थाभेदेनैवेदमभिधानमित्युक्तोत्तरत्वात् अयमाशयः प्रथमाऽवस्थायां संस्काराणां शेषेऽपि चरमावस्थायां सकलसंस्काराणां निरोधादिति न पूर्वापरविरोधः॥३१-३२॥

॥इति श्रीकुलयशस्विशास्त्रिप्रणीतायां योगमञ्जर्य्यां समाध्याख्यः प्रथमः पादः॥

द्वितीय पादः-साधनम्

समाहितचित्तस्य योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्य योगः कथं सिद्ध्यतीति तत्साधनप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह– "प्रणिधानेति"।

प्रणिधानतपोऽध्यायाः क्रियायोगः स सेवितः।
क्लेशेषु कुरुते सौक्ष्म्यं समाधिम्भावयत्यपि॥१॥

सर्वासां क्रियाणां परमगुरावीश्वरे समर्पणं तत्फलत्यागो वा प्रणिधानं येन सन्तुष्टः सततमीश्वरो निःश्रेयसप्रदाता स्यात्, स एव परमगुरुर्निखिलान्तः-करणमलनिबर्हणेनानुध्यायिनमनुगृह्य प्रत्यक्चेतनाधिगमद्वाराऽपवर्गं सम्प्रसाधयति। अथेश्वरस्य कथं निश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते? प्रत्यक्षासिद्धवस्तुनोऽनङ्गीकारेणे-श्वराङ्गीकारस्य सुतरां दूरनिहितत्वान्न हि प्रत्यक्षासिद्धं वस्तुस्वीकर्त्तुमुचितं शशविषाणादीनामपि स्वीकार्यतापत्तेस्तेषामपि प्रत्यक्षासिद्धत्वान्न च वाच्यमनुमाना-दिनेश्वरसिद्धिसम्भवः शशविषाणादेश्चानुमापकहेतोरभावान्न सिद्धिरिति; प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयाऽस्माभिरनुमानादेः प्रामाण्यानङ्गीकारात् न च वाच्यम-स्त्यनुमानादेः प्रामाण्यं कथमन्यथा धूमदर्शनानन्तरं ह्यर्थिनां पुन्नागनागवकुल-परिजातमन्दारमल्लिकाचम्पकसुरभ्यामोदवासिते नारिकेलतालतमालबिल्व-चिरविल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थजम्बुशताकीर्णे विपिने बहूनि मधुराणि फलानि सन्तीति वचनश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां च प्रवृत्तिरुत्पद्यत इति। वक्ष्यमाणदूषणगणग्राहग्रासात्तथाहि व्याप्तिपक्षधर्मताशालिलिङ्गमेव गमकं वाच्यं व्याप्तिश्च नाज्ञाता सती चक्षुरादिवज्जनिकेतिज्ञातैवाभ्युपगन्तव्या। तथा च कः खलु तज्ज्ञानोपायः प्रत्यक्षमाहोस्विदनुमानं शब्दो वा। न तावत्प्रत्यक्षं तस्य स्वसम्बद्धविषयज्ञानजनकत्वेनातीतानागतयोर्व्याप्तिग्रहासम्भवात्, नाप्यनुमानं तस्य व्याप्तिज्ञानरूपत्वे स्वापेक्षणादात्माश्रयस्तयोर्भेदाङ्गीकारेऽन्योन्या-पेक्षणे परस्पराश्रयस्तस्याप्यन्यापेक्षणे चानवस्थादयः व्याप्तिपक्षधर्मताशालिलिङ्ग-रूपत्वेऽप्यनुमानस्यैते दोषा अनिर्बाधा इति नानुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः। नापि

शब्दः धूमधूमध्वजयोर्व्याप्तिरिति वचनात्प्राक् शब्दरचनान्यथानुपपत्त्या व्याप्ति-पदार्थज्ञानस्यावश्यकत्वेन तस्य चानवस्थादिभयेन शब्दजन्यत्वास्वीकारादिति न व्याप्तिज्ञाने शब्दोऽप्युपायः। किञ्चानुपदिष्टव्याप्तिकस्यार्थान्तर-दर्शनेऽर्थान्तरानुमित्यभावात् स्वार्थानुमानकथापि त्वन्मते नात्मानं लभेतेति व्याप्तिज्ञानोपायाभावेन तच्छालिलिङ्गस्य गमकत्वासिद्ध्या नाप्यनुमाननेश्वरसाधने मनोरथद्रुमफलसम्भवः। नापि शब्दप्रमाणेनेश्वरसाधनसम्भवः क्लेशाद्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इतिवाक्यप्रयोगस्यार्थज्ञानमन्तराऽनिष्पत्तेस्तदर्थश्च त्वदभिमत ईश्वरो नाद्यापि केनचित् प्रमाणेन सिद्धस्ततश्च तादृशवाक्यप्रयोगस्यैवा-सम्भवादिति न शब्दप्रमाणेनापीश्वरः शक्यते साधयितुम्। उपमानादिकन्तु दूरापास्तन्तेषां सञ्ज्ञासंज्ञिसम्बन्धादिबोधकत्वेन तत्सिद्ध्यनन्तरं प्रवृत्तेः संज्ञिनश्चेश्वरस्यासिद्ध्या तत्सम्बन्धादेरप्यसम्भवे कथमुपमानादिकं सञ्ज्ञा-संज्ञिसम्बन्धादिबोधकं तत्र प्रमाणं भवेत्। किञ्चोपमानादेर्भवता त्रिष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भावस्वीकारात्प्रमाणत्रयेणेश्वरसिद्धिनिराकरणादेवोपमानादेरपि तन्निराकारणसम्भवेऽपार्थ उपमानादेरीश्वरसिद्धिनिराकरणः सन्नाह इति नेश्वरः कश्चित्पदार्थो यः सन्तुष्टो निःश्रेयसं विदध्याद्यं कश्चिद्वा प्रणिदध्यात्ततश्च न युक्तन्निः श्रेयसार्थिनामीश्वरे सर्वक्रियासमर्पणरूपं प्रणिधानमिति प्राप्ते। उच्यते। कस्य हेतोरयमीश्वरो निषिध्यते; तत्र प्रमाणाभावात्। तस्य शशविषाणायमानत्वेनासत्त्वाङ्गीकाराद्वा न द्वितीयः। ईश्वरोऽसन् इतिवाक्य-प्रयोगस्यार्थावगममन्तराऽनिष्पत्तेः। वाक्यप्रयोगात्प्रागीश्वरावगमे तु तद्भ्युपगम आवश्यकः यदि चैवमुच्यते तादृशवाक्यप्रयोगात्प्रागीश्वरो मया शशविषाण-वदसन्नवगतस्तथापीश्वरावगमस्त्वावश्यको भवतः सत्त्वेन वाऽसत्त्वेनावगच्छेद् भवान् श्रद्धैवैताश्यर्थे कारणम् ईश्वरमसन्तमन्यमानेन कदाचिद्गुरुप्रसादात्-सत्त्वमप्यवगमिष्यते प्रसादय गुरुत्वं शुश्रूषया यथोपदिशेयुस्त्वाम्प्रतीश्वर-सत्त्वप्रसाधनप्रक्रियां ब्रूहि चेश्वरोऽसन्निति वाक्यप्रयोगात्प्राक्केन प्रमाणेनेश्वरोऽ-सन्नवगतो भवता लोकोत्तरप्रज्ञेन प्रत्यक्षप्रमाणादनुमानाद्वा। अनुमानादिति चेत्त त्स्वीकारे सिद्धान्तच्युतिरस्वीकारे चेश्वरासत्त्वावगमासिद्धिरिति नानुमानेन तदसत्त्वावगमो युक्तः। प्रत्यक्षप्रमाणाच्चेद्गृहाद्बहिर्गतो भवान् गृहगतं बन्धु-वर्गमपश्यन् तदसत्त्वन्निश्चित्य कथन्न शोकाग्निदाहदग्धहृदयो मूर्च्छितो भूमौ शयीतेति न प्रत्यक्षप्रमाणाभावमात्रादीश्वरासत्त्वावगमसिद्धिः। न च वाच्यं न

मया प्रत्यक्षप्रमाणाभावादीश्वरासत्त्वमभिधीयतेऽपितु प्रत्यक्षादेवेति, प्रत्यक्षस्यापि स्वसम्बद्धविषयाबोधजनकत्वेन शशविषाणसमेनेश्वरेणासता चक्षुरादीनां सम्प्रयोगानुपपत्तेर्न ह्यसता शशविषाणेन चक्षुरादीनां सम्प्रयोगस्सम्भवति घटाभावादिनो वाऽसतापि विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षस्वीकारे तस्यापि सत्त्वम्प्रसज्येतेति वृद्धिमिच्छतस्ते मूलहानिर्हाकष्टतरम्। न हि घटाभावादयोऽसन्तश्शशविषाणसमास्तेऽपि भावा एवेति न प्रत्यक्षादपीश्वरासत्त्वावगमनसम्भवः। किञ्च निषेधस्य प्रतियोगिज्ञानपूर्वकत्वेनेश्वररूपप्रतियोगिज्ञानमन्तरा न तन्निषेधसम्भव इतीश्वरं निषेधतस्तवापीश्वराभ्युपगम आवश्यकोऽतो न कथञ्चिदपीश्वरापलापसम्भवः। न च निषेधस्य प्रतियोगिज्ञानमन्तराऽसिद्धिनियमाभ्युपगमबलान्मया विकल्पप्रत्ययेनैवेश्वररूपोऽसन् प्रतियोगी गृहीत इत्यसत एवेश्वरस्य निषेधस्वीकारे न प्रतियोगिज्ञानविधयेश्वरसाधनावकाश इति असतो निषेधानुपपत्तेर्न ह्यसन्विधातुं प्रतिषेद्धुं वा शक्यते; येनालीकतामभ्युपगम्येश्वरस्य तन्निषेधोऽनुष्ठीयेतेति नेश्वरसत्त्वावगममन्तरातन्निषेधः। न च वाच्यमसतोऽपि गगनारविन्दस्यास्ति दृष्टिगोचरः प्रतिषेधो गगनारविन्दं नास्तीति प्रतीति सम्भवात्तत्रापि सत एव प्रतिषेधात् न हि गगनारविन्दं नास्तीति प्रतीतिगोचरोऽसतो गगनारविन्दस्याभावः; किन्तु अरविन्दे गगनजन्यत्वाभाव इति नासतो निषेधसम्भवस्तथा चेश्वरो नास्तीति निषेधो न सम्भवति; ईश्वरस्य त्वया विकल्पप्रत्ययविषत्वेनासत्त्वाभ्युपगमात्। यदि चारविन्दे गगनजन्यत्वाभाव इव ईश्वरेऽपवर्गदातृत्वाभाव ईश्वरो नास्तीति प्रतीतिगोचर इत्येवमुच्येत तदाप्यरविन्दवदीशसत्त्वावगम आवश्यकः। किञ्च विकल्पस्य सति धर्मिण्यसद्रूपधर्मभेदावगाहितया निषेधप्रतियोगितया ज्ञायमानस्यासत ईश्वरस्य कथं विकल्पप्रत्ययः। किमीश्वरेऽविद्यमानस्यासत्त्वस्य भेदप्रत्ययः आहोस्विदसदभिन्नस्येश्वरस्य भेदप्रत्ययः। न तावत् प्रथमः। ईश्वरसत्त्वाङ्गीकारमन्तरा तत्रासत्त्वस्य विद्यमानतानुपपत्तेस्तदङ्गीकारे चेश्वरासत्त्वासिद्धिः। नापि द्वितीयः; तदङ्गीकारमन्तराऽसद्भिन्नेश्वरभेदप्रत्ययस्याप्यसम्भवात्। एतेन प्रथमविकल्पोऽपि निरस्तो बोधव्यः। तथा च सिद्ध एवेश्वरः परमगुरुर्यस्मिन् सर्वक्रियासमर्पणात्मकं प्रणिधानमुच्यते व्याप्तिग्रहणोपायश्च न विस्तरभयादिह प्रपञ्चित इति कृतं पल्लवैः प्रकृतमेवानुसरामः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि–अध्यायः प्रणवपूर्वकपवित्रमन्त्राणां जपः। एते

क्रियायोगपदव्यपदेश्याः। ईश्वरे सर्वकर्मसमर्पणमन्तरेण व्युत्थितचित्तस्य योगसिद्धिम्प्रत्याशाऽसम्भव इति प्रणिधानोपादानम्। व्युत्थितचित्तस्य शरीर-बलान्वितस्य बहिश्चेष्टस्य शरीरकार्श्यमन्तरेण प्रायश एकत्रावस्थानासम्भव इति तपोग्रहणम्। प्रणवादिपवित्रमन्त्रजपमन्तराव्युत्थितचित्तस्यासदाला-पेभ्योऽनिवृत्तिरित्यरिध्यायोपादानम्। ननु क्रियायागपदव्यपदेश्यानान्तपोऽध्या-येश्वरप्रणिधानामेकैकस्यापि स्यात् क्लेशतनूकरणार्थत्वं समाधिभावनार्थत्वं चेत्यत आह– स इति। एकवचनान्ततच्छब्दपरामृष्टस्य क्रियायोगस्यैव क्लेशतनूकरणार्थत्वं समाधिभावनार्थत्वं च नत्वेकैकस्य प्रणिधानादेः। न हि जातमात्रः सन् क्रियायोगोऽनेकजन्मार्जितवासनाविषयाप्यायितस्फीतेषु क्लेशेषु सौक्ष्यमाधातुमीष्ट इति सेवित इत्यनेन दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्काराऽऽ-सेवितत्वं प्रदर्शितं क्रियायोगस्य॥१॥

अथ के क्लेशा इति तत् स्वरूपाकांक्षायामविद्याऽस्मितारागद्वेषाभि-निवेशान् पञ्चक्लेशान् सञ्ज्ञान्तरद्वारा क्रमेण निर्दिशति–"तम" इति।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रो ह्यन्धसञ्ज्ञकः।
एते क्लेशास्तमः क्षेत्रमुत्तरेषां प्रकीर्त्तितम्॥२॥

सत्यां चाविद्यायामेषां सत्त्वात् क्षीयमाणायां चानुक्षयादित्यस्मितादि-चतुर्ण्णामविद्यामूलकतामाह–"तमः क्षेत्रमिति"। तमोऽविद्याऽनात्मन्यात्मा-भिमानरूपा क्षेत्रं प्रसवभूमिः। उत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्ण्णाम्। प्रकीर्त्तितमुदाहृत-मित्यर्थः॥२॥

क्लेशानां चातुर्विध्यन्दर्शयति– एते इति।

एते चतुर्विधा ज्ञेयाः प्रसुप्तादिप्रभेदतः।
तमोऽनित्येषु नित्यत्वप्रत्ययः परिभाष्यते॥३॥

आदिना तनुविच्छिन्नोदाराणां परिग्रहस्तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधाभावेन नारम्भन्ते स्वकार्याणि ते प्रसुप्ताः। स्वप्रतिपक्षभावनया शिथिली-कृतकार्यसम्पादनशक्तयस्तनवः। अन्योन्यमितरोत्कर्षे बलवता क्लेशेनाभिभूत-शक्तयो विच्छिन्नाः। यथा रागकाले द्वेषः। द्वेषकाले च रागः। अभिनिवेशकाले रागद्वेषावित्यादयः। ये स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति ते उदाराः। अविद्या-

स्वरूपमाह– "तम" इति। अतस्मिंस्तदितिभासस्तमः। अनित्येषु कार्येषु पृथिव्यादिषु यो नित्यत्वप्रत्ययः। नित्यानि पृथिव्यादीनीत्याकारः स तम इत्युच्यते। एतेनाशुचिदुःखानात्मसुशुचिसुखात्मत्वाभिमानोऽविद्येत्यप्युक्तं बोध्यम्॥३॥

अस्मितादिरूपमाह– मोह इति।

मोह एकात्मता शक्त्योर्महामोहस्सुखे स्पृहा।
तामिस्त्रो दुःखहानेछोच्छेदत्रासोऽन्धसञ्ज्ञकः॥४॥

पुरुषो दृक्शक्तिः बुद्धिर्दर्शनशक्तिस्तयोर्भोक्तृभोग्यत्वेन भिन्नयोरपि य एकताभिमानस्समोहोऽस्मिता ननु तमोऽपरसञ्ज्ञाया अविद्यातोऽस्मिताख्यस्य मोहस्य न कोऽपि विशेष उभयोरभिमानात्मकत्वाऽविशेषादिति चेन्न। अविद्ययाऽ-नात्मानमात्मतयाभिमत्य पश्चाद्योबुद्धिपुरुषयोरेकताभिमानः सोऽस्मिताख्यो मोहो येन कर्त्ताहमस्मीत्यभिमन्यते तथा चाविद्याऽस्मितयोरयं भेदः। यथा चन्द्रबिम्बविरहिणि वारिणि चन्द्रो वारिणीति धीः प्रागुत्पद्यतेऽनन्तरं च तद्गते चन्द्रे कम्पादिकत्वावगाहिनी, तद्वदनात्मन्यात्मत्वाभिमानानन्तरं यया कर्त्तास्मीत्य-भिमन्यते साऽस्मिता तस्याश्चाविद्याकार्यत्वेनाभिमानात्मकत्वेऽपि न क्षतिः कार्ये कारणानुप्रवेशस्यावश्यकत्वात् सुखाभिज्ञस्य सुखे सुखसाधने चेच्छा महामोहो रागः। दुःखाभिज्ञस्य दुःखे दुःखसाधने च जिज्ञासा तामिस्त्रो द्वेषः। पूर्वजन्ममरणानुभवजनितवासनाचक्रवेगादुत्पद्यते यस्सर्वेषां मरणत्रासो मम शरीरेन्द्रियादिभिर्वियोगो मा भूदित्येवं लक्षणस्सोऽन्धसञ्ज्ञकोऽभिनिवेशः॥४॥

उक्तपञ्चक्लेशानां द्वैविध्यं प्रहाणोपायद्वयं चाह– "सूक्ष्मा" इति।

सूक्ष्मालयेन हेयास्ते ध्यानेन वृत्तयस्तथा।
दृष्टादृष्ट जनिज्ञेयः कर्माशयस्सकारणः॥५॥

सूक्ष्मा; वासनारूपेणावस्थिताः; ये क्लेशास्ते लयेन चित्तप्रलयेन; हेयास्त्यक्तव्याः, चरिताधिकारे चेतसि लीने तेनैव सह लीयन्ते सूक्ष्माः क्लेशाः। स्थितानामारब्धकार्याणां क्लेशानां वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः पूर्वोक्तेन क्रियायोगेन तनूकृत्य ध्यानेन चित्तैकाग्र्यलक्षणेन हेयाः। एतेन स्थूलसूक्ष्माणां क्लेशानां स्वत्वल्पायासमूहायासपरिहार्यत्वमपि बोध्यम् यथा

वस्त्राणां स्थूलो मलः स्वल्पेन प्रयासेन पूर्वं निर्धूयते तदन्तर्गतः सूक्ष्मश्च महता प्रयत्नेन तद्वत्क्लेशानां स्थूलाः सुखदुःखमोहात्मिका वृत्तयश्चित्तलयापेक्षयाऽल्पप्रयासेन ध्यानेन परिहृता भवन्ति सूक्ष्माश्च क्लेशाश्चित्तलयेन महाप्रयासेनेति। क्लेशानां स्वरूपादिकमभिधाय कर्माशयस्य तत् प्रदर्शयितुमाह–"दृष्टादृष्टेति"। सकारणः अविद्यादिक्लेशमूलकः। कर्माशयो वासना सूक्ष्मस्वरूपेणावस्थितं कर्म। दृष्टेऽस्मिन् जन्मनि। अदृष्टे जन्मान्तरे च ज्ञेयो वेदनीयस्तद्यथा नन्दीश्वरनहुषयोर्दृष्टजन्मवेदनीयः यतस्तावस्मिन्नेव जन्मनि स्वकं परिणामं हित्वा देवत्वतिर्यक्त्वाभ्यां परिणतौ। नारकिणाञ्चादृष्टजन्मवेदनीयः। एवञ्चान्येषां कर्माशयो यथायथं दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयोऽवगन्तव्यस्तथाचायमत्र विवेकः कर्माशय इत्यनेन कर्मणां वासनात्मकं स्वरूपं दर्शितं सकारण इत्यनेन च सर्वेषां स्थूलसूक्ष्मरूपेणावस्थितानां कर्मणामविद्यादिक्लेशजन्यत्वं प्रदर्शितं दृष्टादृष्टेत्यनेन तु फलं दर्शितम्॥५॥

सत्यविद्यादौ मूले कर्माशयो जात्यायुर्भोगान् जनयतीत्याह–"कर्माशये"ति।

कर्माशयसमूलस्य विपाको भवति त्रिधा।
पुण्यापुण्यप्रसूतत्वात्सुखदुःखफलास्त्विमे॥६॥

विपाकः फलं त्रिधा–जात्यायुर्भोगैस्त्रिप्रकारैः। जातिर्जन्मब्राह्मणत्वादिर्वा। आयुः प्राणैः कायसम्बन्धः। भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः। सञ्चितकर्मवासनाः स्वकीयं जात्याद्यात्मकं कार्यमारभन्त इति भावः। पुण्यकर्मवासनालब्धजन्मनां जात्यायुर्भोगानां सुखजनकत्वं पापकर्मवासनालब्धजन्मनान्तु दुःखजनकत्वमित्याह "पुण्यापुण्ये"ति इमे जात्यायुर्भोगाः॥६॥

अनैकान्तिकदुःखोच्छेदं समीहमानस्य ज्ञातक्लेशादिविवेकस्य योगिनस्सकलमेव भोगसाधनं परिणामतापसंस्कारैर्दुःखमादावन्ते मध्ये च विषयसुखानुभवकालेऽपि विषयसंस्पृक्तान्नवत् प्रतिकूलवेदनीयमेवेत्याह–परिणामेति।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिभिः।
विरोधाद्वस्तुजातं च दुःखमेव विवेकिनः॥७॥

परिणामदुःखेन तापदुःखेन संस्कारदुःखेन च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तयः। सुखदुःखमोहात्मिका यास्ताभिः। परस्परं विरोधात् अभिभाव्याभिभावकभावाद्वस्तुजातमेव सर्वमेव विवेकिनः ज्ञातक्लेशादितत्त्वस्य दुःखमित्यन्वयपूर्वकोऽर्थः। तत्र परिणामदुःखं भोगदशासमापन्नविषयसजातीयाभिलष्यमाणविषयान्तराऽप्राप्तिनिबन्धनं तापदुःखमुपभुज्यमानसुखसाधनप्रतिद्वन्द्विविषयविषयकद्वेषसमुत्थम्। संस्कारदुःखं विषयसन्निधानजनितसुखानुभवसमुत्पन्नावस्थितसंस्कारवेदनीयम्। पुण्यकर्मवासनाजनितसुखानुभवावसरेऽपि पूर्वोक्तदुःखानां मूलतोऽनुच्छेदात्सुखमपि दुःखसंसृष्टतया विषसंपृक्तान्नवद्दुःखमेवेतिभावः॥७॥

यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगआरोग्यं रोगहेर्तुभैषज्यमित्येवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमित्याह– "हेये"ति।

हेयहाने तयोर्हेतुरितिव्यूहा यथाक्रमम्।
हेयमनागतं दुःखं संयोगो द्रष्टृदृश्ययोः॥८॥

हेयहेतुस्तथाहानं दुःखत्रयनिवर्त्तनम्।
हेतुरविप्लवा तस्य विवेकख्यातिरुच्यते॥९॥

हेय–हेयहेतु–हान–हानोपायांश्चतुरोव्यूहान् स्वरूपनिर्देशपूर्वकं क्रमेण दर्शयति– "हेयमनागतमि"ति। भूतदुःखस्य व्यतिक्रान्तत्वेन क्लेशाजनकत्वमनुभूयमानस्य च हातुमशक्यत्वेनानागतस्यैव दुःखस्य हेयता पर्यवस्यति। द्रष्टा चेतनः पुरुषः। दृश्यम्–परिणामिबुद्धितत्त्वम्–तयोर्विवेकाग्रहपूर्वकः संयोगो भोक्तृभोग्यत्वेन सन्निधानं स हेयस्य निरुक्तदुःखत्रयस्य हेतुः कारणम्। दुःखत्रयस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। तस्य हानस्य हेतुः कारणमविप्लवाः न विप्लवो विपर्यासो मिथ्याज्ञानं यस्यां सा विपर्ययशून्या विवेकख्यातिः पुरुषविशेष्यकः प्रकृत्यन्यत्वप्रकारकः साक्षात्कारः॥८॥९॥

दृश्यस्य क्रियास्वरूपप्रयोजनानि दर्शयति– "दृश्यमि"ति।

दृश्यं भोगापवर्गार्थं स्थितिकर्मप्रकाशवत्।
भूतेन्द्रियात्मकं ज्ञेयमात्मा तस्य दृगर्थकः॥१०॥

भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः। अपवर्ग आत्यन्तिको दुःखनिवृत्ति–

स्तावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्। ननु भोगापवर्गौ यदि दृश्यस्य स्वीक्रियेते तदा कृतं तदतिरिक्तेन चेतनेन, चेतनोऽहङ्कारोमीति कृतिसामानाधिकरणचैतन्य-प्रत्ययेन तत्र चैतन्यस्यापि सम्भवात्। न चेद्दृश्यस्य तदा चेतनस्य भोगापवर्ग-भागित्वेनासङ्गत्वक्षतिरितिचेन्न, दृश्यगतयोर्भोगापवर्गयोश्चेतने पुरुषे व्यपदेश-सम्भवात् यथा राज्ञ्यविद्यमानावपि स्वस्वामिभावसम्बन्धमादाय योद्धृगतौ जयपराजयौ व्यपदिश्येते तथा पुरुषेऽपि भोक्तृभोग्यत्वसम्बन्धनिबन्धनोऽव्यपदेशः। परिणामित्वेन बुद्धावचैतन्यानुमानस्यावश्यकत्वेन चेतनोऽहं करोमीति प्रतीतेश्-चैतन्यांशे भ्रान्तित्वात्। चेतनस्य च न स्वाभाविकौ भोगापवर्गौ स्वाभाविकत्वे च तयोर्निवृत्त्यसम्भवात्, न हि स्वभावस्याभावः केनापि कर्त्तुं शक्यते न ह्युष्णस्वभावो वह्निर्वर्षसहस्रेणापि शीतयितुं शक्यस्तस्मान्न भोगापवर्गस्वभावकः पुरुषस्तस्य भोगस्वभावत्वे संसारानुच्छेदः। अपवर्गस्वभावत्वे चानुभूयमान-बन्धानुपपत्तिः। तथा च साङ्ख्यसूत्रम्- *"स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठान-लक्षणमप्रामाण्यमि"*ति दृश्यं भोगापवर्गार्थम्। स्थितिर्नियमनरूपा तद्वत्तमः। कर्मप्रवृत्तिरूपं तद्वद्रजः। प्रकाशो ज्ञानरूपस्तद्वत्सत्त्वम्। भूतानि पृथिव्यादीनि। इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि। आत्मास्वरूपं यस्य तत् भूतभावेनेन्द्रियभावेन च परिणतमित्यर्थः। तस्योक्तलक्षणस्य दृश्यस्यात्मा स्वरूपं दृगर्थकः पुरुष-भोगापवर्गसम्पादकः॥१०॥

दृश्यं निरूप्य द्रष्टारं निरूपयति- "द्रष्टे"ति।

द्रष्टा च दृशिमात्रस्स्याच्छुद्धोऽपि प्रत्ययानुगः।
दृश्यं नाशमपि प्राप्तं कृतार्थं पुरुषम्प्रति॥११॥

तदनाश्यन्यवृत्तित्वात् संयोगो द्रष्टृदृश्ययोः।
रूपोपलब्धिहेतुःस्यादविद्या तस्य कारणम्॥१२॥

द्रष्टा पुरुषः। दृशिमात्रश्चेतनमात्रः। शुद्धोऽपि सुखाद्यसंस्पृष्टोऽपि प्रत्ययानुगः प्रत्यया विषयोपरक्तानि ज्ञानानि तान्यनुगच्छत्यनुसरतीति। अव्यवहितसन्निधानमात्रेण बुद्धावुपरागे सति पुरुषस्य द्रष्टृत्वं सम्भवतीतिभावः। ननु दृश्यस्य भोगार्थत्वे कृतभोगस्य तस्य प्रयोजनाभावादेवोपरमे सर्वेषां पुरुषाणां शुद्धरूपत्वेन बन्धराहित्यात् संसारमात्रोच्छेदस्स्यादित्यत आह- "दृश्यमिति"। विवेकख्यातिपर्यन्तं भोगसम्पादनात् कृतार्थं विवेकख्यातिमन्तं

कुशलं पुरुषं प्रति दृश्यं नाशम्प्राप्तमपि नष्टमपि त दृश्यमनाशि अनष्टम्। तदन्येष्वकुशलेष्वनुत्पन्नविवेकख्यातिमत्सु वृत्तित्वात् विद्यमानत्वात्। दृश्यस्य सर्वपुरुषसाधारणतया कृतार्थम्प्रति नष्टत्वेप्यन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारतयाऽवस्थानात्तदनाशि, तथा च नैकमुक्त्या सर्वमुक्तिप्रसङ्गोऽपि। दृश्यद्रष्टारौ निरूप्य सम्प्रति तयोस्सम्बन्धं दर्शयति– संयोग इति। द्रष्टृदृश्ययोर्भोक्तृभोग्यत्वात्मकस्वरूपसम्बन्धविशेषलक्षणो यः संयोगस्स तयो रूपोपलब्धी स्वरूपसाक्षात्कारे हेतुः कारणम्; व्यापकयोः प्रकृतिपुरुषयोस्संयोगसम्बन्धासम्भवात्। न च दैशिकात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वलक्षणं व्यापकत्वं प्रकृतौ, सर्वमूर्त्तसंयोगित्वरूपं च पुरुष इति प्रकृतिपुरुषयोः संयोगोऽपि सम्भवति प्रकृतेस्सर्वत्र तादात्म्येन पुरुषवत्सर्वमूर्त्तसंयोगगित्वाभावादिति वाच्यम्। अमूर्त्तद्वयसंयोगानङ्गीकारात् क्रियाशून्यत्वरूपामूर्त्तत्वस्य प्रकृतिपुरुषयोरुभयत्र सम्भवान्नामूर्त्तयोः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगो युक्तः। यद्यपि परिणामलक्षणक्रियाशून्यत्वं प्रकृतौ नास्तीति तस्या अपि मूर्त्तत्वोपपत्तिस्तथाप्यत्र क्रियापदेन परिणामान्यक्रियाया विवक्षणान्न दोषः। वस्तुतस्तु न प्रकृतेः पुरुषेण साक्षात्सम्बन्धरूपोपलब्धिहेतुरपितु बुद्धिद्वारकस्स च संयोगोऽपि सम्भवति, घटाकाशस्येवात्मना व्यापकयोराकाशात्मनोर्मिथस्संयोगाभावेऽपि घटाकाशस्यात्मना संयोगो निर्बाधो घटाकाशस्याव्यापकत्वाद्विभ्वोर्द्वयोस्संयोगानङ्गीकारादेवं प्रकृतेर्विभुत्वेऽपि बुद्धेरविभुत्वेन तद्द्वारकस्संयोगो नानुपपन्नः। एतेन भोक्तृभोग्यत्वलक्षणसम्बन्धस्वीकारे सुषुप्तौ पुरुषे भोक्तृत्वाभावेन रूपोपलब्धिहेतुसम्बन्धभङ्गात् पुनरनुत्थानप्रसङ्ग इत्यपि निरस्तम्। तत्रापि संयोगसम्बन्धस्य सत्त्वात् स्वस्वामिभावसम्बन्धात्मकसंयोगाङ्गीकाराद्वा॥११॥१२॥

संयोगकारणाविद्यानाशोपायमाह–यदेति।

यदा सञ्जायते ख्यातिर्नाशस्तस्या निरूपितः।
सप्तधा प्रान्तभूमौ धीर्योगिनस्तस्य भाषिता॥१३॥

ख्यातिरित्यतः प्राग्विवेकेति पूरणीयम्। तथा च विवेकख्यात्याऽविद्यानाशस्ततो द्रष्टृदृश्यसंयोगनाशस्ततश्च दुःखत्रयहानरूपं पुरुषस्य कैवल्यम्। उत्पन्नविवेकज्ञानस्य योगिनस्सालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ता ज्ञातव्यविवेकरूपा सप्तप्रकारा प्रज्ञा भवतीत्याह– "सप्तधेति"। तस्य उत्पन्नविवेकख्यातेः।

प्रान्ता सालम्बनसमाधिपर्यन्ता या भूमिः। अवस्था-तस्यां सप्तधा सप्तभिः प्रकारैः। धीः प्रज्ञा भाषिता योगिभिर्निरुक्ता। तथाहि ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदवशिष्यते १। क्षीणा मे क्लेशा न क्षेतव्यमवशिष्यते २। ज्ञानमधिगतं मया ३। लब्धा मया विवेकख्यातिः ४। इयं चतुर्विधाकार्यमुक्तिः। चरितार्था मे प्रज्ञा १। समाप्ताधिकारा गुणा गिरिशिखरच्युतग्रावाण इव न पुनरवस्थानं गमिष्यन्ति२। एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतस्स्वात्ममात्रनिष्ठोऽहम् ३। इयञ्च त्रिप्रकारा चित्तमुक्तिरिति दर्शिता सप्तप्रकारवती प्रज्ञा॥१३॥

वक्ष्यमाण योगाङ्गानुष्ठानाच्चित्तसत्त्वावरणरूपाशुद्धिक्षये यो ज्ञानप्रदीप्ति-रूपो विवेकख्यातिपर्यन्तस्सात्विकः परिणामस्स विवेकख्यातेरुपाय इत्याह-योगाङ्गानामिति।

योगाङ्गानामनुष्ठानाद्विलीने पञ्चपर्वणि।
ज्ञानप्रदीप्तिराख्यातेस्तत्प्रक्षयानुवर्त्तिनी॥१४॥

पञ्चपर्वणि चित्तसत्त्वावरणरूपाशुद्धिस्वरूपे विपर्यये। विलीने विनष्टे। ज्ञानप्रदीप्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धमानः सात्त्विकः परिणामः। आख्यातेः विवेकख्याति-पर्यन्तः। तत्प्रक्षयस्य पञ्चपर्वविनाशस्य अनुवर्त्तिनी अनुगामिनी यथा यथा योगाङ्गानामनुष्ठानं तथा तथाऽशुद्धेः प्रक्षयः। यथा यथा चाशुद्धेः प्रक्षयस्तथा तथा ज्ञानदीप्तिः क्रमेण वर्द्धते सति च विवेकसाक्षात्कारे निवृत्तकर्तृत्वाद्यभिमानः पुरुषः स्वरूपेऽवतिष्ठते। योगाङ्गानुष्ठानं चाशुद्धेर्वियोग-कारणं ज्ञानदीप्तेस्त्वाप्तिकारणम्। ननु कति चैतानि कारणानि येनैतदुच्यते इति चेत् उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तिवियोगान्यत्वधृतयो नवकारणानि तद्यथा मनो भवति ज्ञानस्योत्पत्तिकारणं यतो मनसः परिणामविशेषो ज्ञानं विषयान्तरमवगाहमानं तस्मिन्नेवोत्पद्यते-नैयायिकवदस्मिन्नये ज्ञानो-त्पत्तेरात्मन्यस्वीकारात्। पुरुषार्थता च मनसः स्थितिकारणं यावत्पुरुषार्थं मनसोऽवस्थानात् कृतपुरुषार्थन्तु न पुनः कार्यमारभते इति पुरुषार्थता मनसः स्थितिकारणम्। इयमेव मनसः स्थितिः यत् कार्यारम्भणम्। अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकः यतः सत्यालोके रूपज्ञानं भवति। विकारकारणं मनसो विषयान्तरं यतो विषयाद्विषयान्तरं गच्छन्मनो नैकाग्रतां लभते। प्रत्ययकारणं धूमस्तज्ज्ञानं वा वह्निज्ञानस्य, यतो धूमात्तज्ज्ञानाद्वा वह्निं प्रतिपद्यते। आप्तिकारणं

योगाङ्गानुष्ठानं ज्ञानदीप्तेर्योगाङ्गानुष्ठानमन्तरेण ज्ञानदीप्तेरसम्भवात् दण्डादिकमपि घटस्याप्तिकारणं तद्विनाऽपि घटोत्पत्तिरसम्भवा। वियोगकारणं योगाङ्गानुष्ठानम-शुद्धेः। धूमश्च मशकादेः। अन्यत्वकारणं सुवर्णस्य सुवर्णकारः। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणां तानि च शरीरस्य जलादिकं च काष्ठनीकादेः वायुश्चाका-शस्थिततृणादेः॥१४॥

कानि योगाङ्गानि कति च येषामनुष्ठानादशुद्धिक्षयो भवतीत्यत आह– "प्राणायमनमि"ति।

प्राणायमनमाहारो यमो नियम आसनम्।
समाधिर्धारणा ध्यानमष्टावङ्गान्यमूनि च॥१५॥

आहार इत्यस्य प्रत्याहार इत्यर्थः। तेषु च धारणाध्यानसमाधयोन्त-रङ्गाण्यङ्गानि प्राणायामादीनि तु हिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारा समाधेरेवाङ्गानीति तेषां बहिरङ्गत्वम्। तत्राप्येषामन्योन्यमुपकार्योपकारकभावेनान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वे तद्यथा यमो नियमस्यान्तरङ्गं बहिरङ्गञ्चासनस्य। नियमः अन्तरङ्गं मानसस्य बहिरङ्गं च प्राणायामस्य। आसनमन्तरङ्गं प्राणायामस्य बहिरङ्गं च प्रत्याहारस्य। प्राणायामोऽन्तरङ्गं प्रत्याहारस्य बहिरङ्गं च धारणायाः। धारणा चान्तरङ्गं ध्यानस्य बहिरङ्गं च समाधेः। ध्यानमन्तरङ्गं समाधेर्बहिरङ्गं च योगस्य। समाधिर्योगस्यान्तरङ्गमितिपूर्वोत्तरक्रमेणान्तरङ्गबहिरङ्गभावः। एतेन धारणाध्यान-योरपि बहिरङ्गत्वं दर्शितं तयोरन्तरङ्गत्ववादश्च यमाद्यपेक्षया निर्वहणीयः। व्युत्थितचित्तस्य योगिनो न ह्यहिंसादियमानुष्ठानमन्तरा नियमस्सिद्ध्यति नापि नियमं विनाऽऽसनं नाप्यासनं विना प्राणायामो नापि प्राणायाममन्तरेण धारणा न धारणां विना ध्यानं न ध्यानं विना समाधिर्न समाधिमन्तरा योगस्सिद्ध्यतीत्यष्टाङ्गोपादानम्॥१५॥

तत्र यमान्दर्शयति– अहिंसेति।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमा जात्याद्यवच्छिन्नास्सार्वभौमा महाव्रतम्॥१६॥

अहिंसा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थवत्त्वम्। अस्तेयं परस्वानपहरणम्। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामस्वीकारः।

एते पञ्चयमाः। त एव जात्यादिभिश्चतुर्भिरवच्छिन्नास्सार्वभौमास्सर्वासु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमुच्यन्ते। अहिंसाया जात्यवच्छेदो यथा ब्राह्मणं न हनिष्यामि १ देशावच्छेदस्तीर्थे न हनिष्यामि २ कालावच्छेदश्चतुर्दश्यां न हनिष्यामि ३ समयावच्छेदो देवाद्यर्थव्यतिरिक्तसमये न हनिष्यामि ४। एवं सत्यादिषु चतुर्ष्वपि योज्यम्। अहिंसादिष्वेको जात्यादिचतुर्भिरवच्छिन्नो व्रतैकपाद उच्यते। द्वौ च जात्यादिचतुर्भिवच्छिन्नौ व्रतस्य द्वौ पादावुच्येते। त्रयश्च जात्यादिचतुर्भिरवच्छिन्ना व्रतस्य त्रयः पादा उच्यन्ते। चत्वारश्च जात्यादिचतुर्भिरवच्छिन्नाश्चतुष्पात् पूर्णं व्रतमुच्यते। पञ्च चैते जात्यादिचतुर्भिरवच्छिन्ना-महाव्रतमुच्यन्ते। एकश्चैकेन जात्यादिनाऽवच्छिन्नः पादचतुर्थांशः पाद पाद उच्यते। एतेऽपि विशेषाः। महाव्रतमित्यत्र व्रतविशेषणीभूतेन महच्छब्देन सूचिता बोद्धव्याः। जात्याद्यवच्छिन्नाश्च विशेषणोपादानेन तु जात्यादि-चतुर्भिरनवच्छिन्ना अपि पञ्चैतेऽहिंसादयो यमा भवन्तीत्यपि ध्वनितम्। ते यथा जात्यनवच्छिन्नाः—कमपि न हनिष्यामि १ देशानवच्छिन्नाः—कुत्रापि न हनिष्यामि २ कालानवच्छिन्नाः— कदापि न हनिष्यामि ३ समयानवच्छिन्नाः— कस्मिन्नर्थसमये न हनिष्यामि ४ जातिदेशसमयानवच्छिन्नाश्चैते महामहाव्रत-मुच्यन्ते। "यमा जात्यनवच्छिन्ना" इति पाठे तु जातिपदस्योपलक्षणत्वेन जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना इत्यर्थः। एतत्पक्षे जातिदेशकालसमयान-वच्छिन्नानां सार्वभौमानां चैषां महाव्रतत्वं तदवच्छिन्नानान्तु व्रतमात्रत्वमेवेति सर्वथैव सर्वदा परिपालनीया यमाः॥

यमान् सम्प्रदर्श्य नियमान् दर्शयति— "नियमा" इति।

नियमाश्शौचसन्तोषतपस्स्वाध्ययनार्पणाः।
वितर्कबाधने तेषाम्भावयेत् प्रतिपक्षिणः॥१७॥

शौचं द्विविधं मृज्जलादिभिर्बाह्यं तच्छरीरस्य मैत्र्यादिभिश्चान्तरं तच्च चित्तस्य। सन्तोषोऽधिकस्यानुपादित्सा। तपश्शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनं यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणादीनामनुष्ठानञ्च। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्रमन्त्राणां जपोऽध्यात्मशास्त्राध्ययनं वा। अर्पणा। सर्वक्रियाणां परमगुरावीश्वरे समर्पणम्। तदेतत् प्रणिधानमप्युच्यते। तेषां यमनियमानाम्। वितर्काः हिंसादयस्तैर्बाधने सति तेषां प्रतिपक्षिणः विरोधिनः। भावयेच्चिन्तयेत्। यदा चास्य योगिनो

हनिष्यामि ब्राह्मणमनृतमपि वदिष्यामि परस्वमपि हरिष्यामि परदारांश्चाप्यभिगमिष्यामि भोगसाधनानि चापि ग्रहीष्यामि मृज्जलादिना नोपस्थकरपादादीनि निर्मलीकरिष्यामि मनश्च रिपुतादिषु योक्ष्यामि सत्यपि भोगसाधनेऽधिकमप्यादास्यामि शीतोष्णादिद्वन्द्वान्न सहिष्ये व्रतमपि न करिष्यामि पवित्रमन्त्रजपमपि न करिष्याम्यध्यात्मशास्त्रं च नाध्येष्ये ईश्वरार्पणं न करिष्यामि इति हिंसादयो वितर्का बाधेरंस्तदैवेवं चिन्तयेत्। हा हन्ताती वोल्वणसंसारांगारतप्ताङ्गेन योगाग्रहग्राहगृहीतबुद्धिना मयाऽपहाय हिंसादीन् महता प्रयासेनासादिता योगधर्माः कथमल्पस्य कृते तानुपाददानः श्वतुल्यो न भविष्याम्यतो नैते पुनस्स्वीकार्या येन भूयस्संसारांगारेषु परिपचेयम्॥१७॥

हिंसादीनां स्वरूपं भेदप्रकारकारणानि क्रमेण दर्शयति– "हिंसादय"इति।

हिंसादयो वितर्कास्स्युः कृतकारितमोदिताः।
मृदुमध्याधिमात्राश्च लोभक्रोधादिपूर्वकाः॥१८॥

वितर्का इति स्वरूपस्य दर्शनम्। कृतकारितमोदिता इति भेदस्य। मृदुमध्याधिमात्राश्चेति प्रकारस्य। लोभक्रोधादिपूर्वका इति कारणस्य। आदिना मोहपरिग्रहः। हिंसा कृता कारितानुमोदिता च त्रिविधा तत्र कृता स्वेनानुष्ठिता, कारिताऽन्येनानुष्ठापिता, अनुमोदिता केनचिद्धिंसायां क्रियमाणायां साध्वनुष्ठीयत आयुष्मतेत्यनुमोदनकर्मीभूता। सा प्रत्येकं लोभादिपूर्वकत्वभेदेन विभज्यमाना नवविधा भवति सापि प्रत्येकं मृद्वादिभेदेन विभज्यमाना सप्तविंशतिविधा भवति सा सप्तविंशतिविधापि पुनर्मृद्वादिभेदेन प्रत्येकं विभज्यमानैकाशीतिविधा जायते। तथाहि–कृतहिंसा १ कारितहिंसा २ अनुमोदितहिंसा ३ लोभजकृतहिंसा १ क्रोधजकृतहिंसा २ मोहजकृतहिंसा ३ लोभजकारितहिंसा ४ क्रोधजकारितहिंसा ५ मोहजकारितहिंसा ६ लोभजानुमोदितहिंसा ७ क्रोधजानुमोदितहिंसा ८ मोहजानुमोदितहिंसा ९ मृदुलोभजकृतहिंसा १ मध्यलोभजकृतहिंसा २ तीव्रलोभजकृतहिंसा ३ मृदुक्रोधजकृतहिंसा ४ मध्यक्रोधजकृतहिंसा ५ तीव्रक्रोधजकृतहिंसा ६ मृदुमोहजकृतहिंसा ७ मध्यमोहजकृतहिंसा ८ तीव्रमोहजकृतहिंसा ९ मृदुलोभजकारितहिंसा १० मध्यलोभजकारितहिंसा ११ तीव्रलोभजकारितहिंसा १२ मृदुक्रोधजकारितहिंसा १३ मध्यक्रोधजकारितहिंसा १४ तीव्रक्रोधजकारितहिंसा १५ मृदुमोहजकारितहिंसा १६ मध्यमोहज–

कारितहिंसा १७ तीव्रमोहजकारितहिंसा १८ मृदुलोभजानुमोदितहिंसा १९ मध्यलोभजानुमोदितहिंसा २० तीव्रलोभानुमोदितहिंसा २१ मृदुक्रोधजानुमोदित-हिंसा २२ मध्यक्रोधजानुमोदितहिंसा २३ तीव्रक्रोधजानुमोदितहिंसा २४ मृदुमोहजानुमोदितहिंसा २५ मध्यमोहजानुमोदितहिंसा २६ तीव्रमोहजानुमोदित-हिंसा २७ मृदुमृदुलोभजकृतहिंसा १ मध्यमृदुलोभजकृतहिंसा २ तीव्रमृदु-लोभजकृतहिंसा ३ मृदुमध्यलोभजकृतहिंसा ४ मध्यमध्यलोभजकृतहिंसा ५ तीव्रमध्यलोभजकृतहिंसा ६ मृदुतीव्रलोभजकृतहिंसा ७ मध्यतीव्रलोभजकृत-हिंसा ८ तीव्रतीव्रलोभजकृतहिंसा ९ मृदुमृदुक्रोधजकृतहिंसा १० मध्यमृदु-क्रोधजकृतहिंसा ११ तीव्रमृदुक्रोधजकृतहिंसा १२ मृदुमध्यक्रोधजकृतहिंसा १३ मध्यमध्यक्रोधजकृतहिंसा १४ तीव्रमध्यक्रोधजकृतहिंसा १५ मृदुतीव्र-क्रोधजकृतहिंसा १६ मध्यतीव्रक्रोधजकृतहिंसा १७ तीव्रतीव्रक्रोधजकृतहिंसा १८ मृदुमृदुमोहजकृतहिंसा १९ मध्यमृदुमोहजकृतहिंसा २० तीव्रमृदुमोहजकृत-हिंसा २१ मृदुमध्यमोहजकृतहिंसा २२ मध्यमध्यमोहजकृतहिंसा २३ तीव्रमध्यमोहजकृतहिंसा २४ मृदुतीव्रमोहजकृतहिंसा २५ मध्यतीव्रमोहजकृत-हिंसा २६ तीव्रतीव्रमोहजकृतहिंसा २७ मृदुमृदुलोभजकारितहिंसा २८ मध्यमृदुलोभजकारितहिंसा २९ तीव्रमृदुलोभजकारितहिंसा ३० मृदुमध्य-लोभजकारितहिंसा ३१ मध्यमध्यलोभजकारितहिंसा ३२ तीव्रमध्य-लोभजकारितहिंसा ३३ मृदुतीव्रलोभजकारितहिंसा ३४ मध्यतीव्रलोभज-कारितहिंसा ३५ तीव्रतीव्रलोभजकारितहिंसा ३६ मृदुमृदुक्रोधजकारितहिंसा ३७ मध्यमृदुक्रोधजकारितहिंसा ३८ तीव्रमृदुक्रोधजकारितहिंसा ३९ मृदुमध्य-क्रोधजकारितहिंसा ४० मध्यमध्यक्रोधजकारितहिंसा ४१ तीव्रमध्यक्रोधज-कारितहिंसा ४२ मृदुतीव्रक्रोधजकारितहिंसा ४३ मध्यतीव्रक्रोधजकारितहिंसा ४४ तीव्रतीव्रक्रोधजकारितहिंसा ४५ मृदुमृदुमोहजकारितहिंसा ४६ मध्यमृदुमोहज-कारितहिंसा ४७ तीव्रमृदुमोहजकारितहिंसा ४८ मृदुमध्यमोहजकारितहिंसा ४९ मध्यमध्यमोहजकारितहिंसा ५० तीव्रमध्यमोहजकारितातहिंसा ५१ मृदुतीव्र-मोहजकारितहिंसा ५२ मध्यतीव्रमोहजकारितहिंसा ५३ तीव्रतीव्रमोहजकारितहिंसा ५४ मृदुमृदुलोभजानुमोदितहिंसा ५५ मध्यमृदुलोभजानुमोदितहिंसा ५६ तीव्रध्यमृदुलोभजानुमोदितहिंसा ५७ मृदुमध्यलोभजानुमोदिताहिंसा ५८ मध्यमध्य-लोभजानुमोदितहिंसा ५९ तीव्रमध्यलोभजानुमोदितहिंसा ६० मृदुतीव्र-

लोभजानुमोदितहिंसा ६१ मध्यतीव्रलोभजानुमोदितहिंसा ६२ तीव्रतीव्रलोभजानु-मोदितहिंसा ६३ मृदुमृदुक्रोधजानुमोदितहिंसा ६४ मध्यमृदुक्रोधजानुमोदितहिंसा ६५ तीव्रमृदुक्रोधजानुमोदितहिंसा ६६ मृदुमध्यक्रोधजानुमोदितहिंसा ६७ मध्य-मध्यक्रोधजानुमोदितहिंसा ६८ तीव्रमध्यक्रोधजानुमोदितहिंसा ६९ मृदुतीव्रक्रोध-जानुमोदितहिंसा ७० मध्यतीव्रक्रोधजानुमोदितहिंसा ७१ तीव्रतीव्रक्रोध-जानुमोदितहिंसा ७२ मृदुमृदुमोहजानुमोदितहिंसा ७३ मध्यमृदुमोहजानुमोदितहिंसा ७४ तीव्रमृदुमोहजानुमोदितहिंसा ७५ मृदुमध्यमोहजानुमोदितहिंसा ७६ मध्यमध्यमोहजानुमोदितहिंसा ७७ तीव्रमध्यमोहजानुमोदितहिंसा ७८ मृदुतीव्रमोहजानुमोदितहिंसा ७९ मध्यतीव्रमोहजानुमोदितहिंसा ८० तीव्रतीव्रमोहजानुमोदितहिंसा ८१ कालसमयजातिजन्तुभेदादपरिसंख्येयेयं हिंसेति मुख्यैवैकाशीतिप्रकारा दर्शिता। एवमसत्यादयोऽपि वितर्का बोध्याः॥१८॥

दुःखाज्ञानान्तफलकतया नैते स्वीकार्या इति प्रतिपक्षभावनमाह– दुःखादीति।

दुःखादिफलमेषां चेतिप्रतिपक्षभावनम्।
अहिंसायां प्रतिष्ठायां वैरत्यागोऽस्य सन्निधौ॥१९॥

यमनियमादीनाभ्यासोत्कर्षेण यास्सिद्धयो भवन्ति, ताः क्रमेण दर्शयन्नादावहिंसासिद्धिं दर्शयति– अहिंसायामिति। अहिंसां भावयतोऽस्य यदाऽहिंसा प्रतिष्ठिता भवति, तदा सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनामस्य सन्निधावन्योन्यं वैरत्यागो भवति। यद्वा वैरत्यागोऽस्य सन्निधावित्यस्यायमर्थः। अहिसिंहनकुलादीनां योगिना सह। अहिसिंहनकुलादिभिश्च सहास्य योगिनः सन्निधौ वैरत्यागो भवति। अहिंसां भावयन्तमेनं न बाधन्तेऽहि सिंहव्याघ्र-नकुलादयस्तैस्सहाभयं विहरति योगी॥१९॥

सत्याभ्यासोत्कर्षफलमाह– "क्रियाणा"मिति।

क्रियाणां फलमाप्नोति यदा सत्यं प्रतिष्ठते।
रत्नान्यस्योपतिष्ठन्तेऽस्तेयप्रतिष्ठितिर्यदा॥२०॥

यदाऽस्य सत्यप्रतिष्ठा भवति तदाऽस्य वचनादन्योऽकृत्वापि यागादिकाः क्रियास्तत्फलमश्नुते किमु तस्य वाच्यं स तु सत्यसिद्ध्याऽप्रतिहतवाग्-

भवति। धार्मिको भूया इति वदति यदा कञ्चित् प्रति स धार्मिको भवति। स्वर्गं प्राप्नुहि इति ब्रूते यदा तदा स स्वर्गं प्राप्नोति। अस्तेयोत्कर्षस्य फलमाह– "रत्नानीति"। अस्तेयमभ्यस्यतोऽस्य योगिनस्तदभ्यासप्रकर्षान्नि-रभिलाषस्यापि सर्वतो रत्नान्युपतिष्ठन्ते॥२०॥

यो ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयसामर्थ्यलाभो भवती-त्याह– "ब्रह्मचर्ये"ति।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभोऽपरिग्रहे।
स्थैर्ये जन्मकथन्तायासम्बोधस्तस्य जायते॥२१॥

वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तदभ्यासाच्छरीरेन्द्रियमनस्सुनिरतिशयवीर्य-लाभो भवति यल्लाभादपरिमितं बोधमुपलभ्यान्येष्वपि तमाधातुं समर्थो भवति। भोगसाधनानां परिग्रह एव परिग्रहो न शरीरमात्रपरिग्रहः पारिग्रहः। भोगसाधनपरिग्रहे सत्येव वृत्तीनां बहिर्मुखतया प्रज्ञोत्कर्षाऽसम्भवोऽपरिग्रहस्थैर्ये तु जन्मकथन्तायाबोधस्सुकर इत्याह– "अपरिग्रह" इति। कथमित्यस्य भावः कथन्ताजन्मनः कोहमासं कथमहमासं किं स्विदिदं कथं स्विदिदं के भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येवंरूपा कथन्ताजन्मकथन्ता तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानमपरिग्रहं भावयतो भवति॥२१॥

यमस्थैर्ये सिद्धीरभिधाय नियमस्थैर्ये सिद्धीरभिदधानस्तावच्छौच-सिद्धिमाह– स्वेति।

स्वशरीरे घृणा शौचादसंसर्गः परैस्सह।
सत्त्वशुद्धिस्तदुत्कर्षश्चैकाग्रेन्द्रियजेतृते॥२२॥

आत्मदर्शनयोग्यत्वं सुखलाभो ह्यनुत्तमः।
सन्तोषाज्जायते कायेन्द्रियप्रसाधकन्तपः॥२३॥

भवेत्स्वाध्ययनादिष्टदेवतासम्प्रयोजनम्।
योगसिद्धिर्गुरौ भक्तेस्सुस्थिरं सुखमासनम्॥२४॥

मृज्जलादिभिः कायक्षालनेनापि तच्छुद्धिमपश्यतोऽस्य शौचात् स्वशरीरे नेदं शरीरं वर्षायुतैरपि मृष्टं भवितुमर्हति यतसस्स्थानबीजोपष्टम्भनिधनेभ्यो-शुचीत्येवं विधा घृणा जायते तत्र स्थानाशुद्धिः। मलमूत्रादिदूषिते मातृगर्भगर्त्ते-

ऽवस्थानम्। बीजाशुद्धिः। रक्तवीर्याभ्यां समुत्पत्तिः। उपष्टम्भाशुद्धिः। मांसास्थिस्नाय्वादिभिरवयवरचना। निधनाशुद्धिः मरणम्। प्राणवियोगे सुखाद्यवयववैवर्ण्यं वा। ततश्चैवं दोषदर्शिनः परैस्तद्भिन्नैस्सार्द्धमसंसर्गोऽसम्बन्धः। शौचस्य फलमाह–"सत्त्वेति"। सत्त्वस्य बुद्धितत्त्वस्य शुद्धिः रजस्तमोभ्यामनभिभवः। तदुत्कर्षः सत्त्वस्याधिक्यम्। ऐकाग्र्यं चेतसः स्थैर्यम्। इन्द्रियजयेतृजयेतृभ्यः विषयेभ्य इन्द्रियवृत्तिच्छेदः। आत्मदर्शनयोग्यत्वं पुरुषदर्शने बुद्धितत्त्वस्य सामर्थ्यम्। एते क्रमेण कार्यकारणभावमुपगता जायन्ते। सन्तोषफलमाह– सुखेति। सन्तोषाभ्यासवशात्तथाविधातीवोत्तमसुखस्य लाभो जायते यस्य बाह्यं सुखमयुतांशेनापि न समं भवति। समभ्यसमानं तपश्चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिसंखयद्धारा कायेन्द्रियाणामुत्कर्षमादधातीति तपसः फलमाह– कायेति। कायेन्द्रियप्रसाधकम्। तयोस्सिद्धिकारणम्। तत्र कायस्य सिद्धिर्महत्त्वाणुत्त्वादियथेच्छम्। इन्द्रियाणां च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनसामर्थ्यं तपसस्सम्पद्यते। स्वाध्यायफलमाह–भवेत्स्वाध्ययनादिति। मन्त्रजपादिलक्षणात् स्वाध्ययनादिष्टाया अभिलषिताया देवतायाः सम्प्रयोजनं सम्प्रयोगः प्रत्यक्षदर्शनम्भवति न केवलं दर्शनमात्रमपितु कार्येऽपि सा वर्त्तते। प्रणिधानफलमाह– योगेति। गुरौ ईश्वरे। भक्तेः सर्वक्रियाणां फलानाकांक्षिततया समर्पणेन तस्यैवाराध्यत्वज्ञानात्। योगसिद्धिः समाधिसिद्धिर्भवति। सहसिद्धिर्यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमभिधत्ते–सुस्थिरमिति। यदाऽऽसनं सुस्थिरं निष्कम्पं सुखमयत्नम्भवति तदा योगाङ्गभावं भजते आसनानि तु पद्मासनं भद्रासनं स्वस्तिकासनं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं मयूरासनमित्यादीन्येषां विशेषस्तु हठयोगदीपिकायामिति तत्रैव द्रष्टव्यो न पुनरिह प्रपञ्च्यते॥२२-२४॥

आसनस्थैर्योपायमाह– अनन्तस्येति।

अनन्तस्य समापत्त्या कृत्त्या शिथिलया तथा।
ईरितमासनस्थैर्यं ततो द्वन्द्वैरधर्षणम्॥२५॥

अत्र षष्ठ्यर्थो विषयता तस्याः प्रकृतौ निष्ठतयाऽन्वयस्तस्याश्च स्वनिरूपकविषयिताश्रयत्वसम्बन्धेन समापत्तौ तथा चानन्तनिष्ठविषयतया निरूपकविषयिताश्रयसमापत्त्येत्यर्थः अनन्तश्च शेषो विष्णुर्वा यथाभिमतो ध्येयः कृत्या शिथिलया प्रयत्नशैथिल्येन अक्लेशेनेत्यर्थः। ईरितम्। कथितम्।

आसनस्य स्थैर्यम्। स्थिरे चासनेऽनन्तरं योगिनो द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिः। अधर्षणमनभिघातोऽनभिभवो भवति॥२५॥

आसनस्थैर्ये सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायामो भवतीत्याह– सतीति।

सति तस्मिंश्च विच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्गतेः।
प्राणायामस्स वै बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिकः॥२६॥

बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः कोष्ट्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासः। तयोर्गतेर्गमनरूपायाः क्रियायाः विच्छेदोऽभावः प्राणायाम उच्यते स च त्रिविधः। बाह्यवृत्तिको रेचकः। अभ्यन्तरवृत्तिकः पूरकः। स्तम्भवृत्तिकः कुम्भकः॥२६॥

देशकालसङ्ख्याभिरयं प्राणायामो दीर्घसूक्ष्मसञ्ज्ञो भवतीत्याह– दीर्घेति।

दीर्घसूक्ष्म इतिख्यातस्सङ्ख्यासमयदेशतः।
चतुर्थो विषयाक्षेपी भासावारक्षतिस्ततः॥२७॥

सङ्ख्या–इयतोवारान् कृतः। समयेन–षट्त्रिंशन्मात्रादिना कालेन। देशेन द्वादशाङ्गुलप्रमाणेन। एवं विधभेदोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसञ्ज्ञां लभते तत्र दीर्घसंख्यासमयदेशैः। दीर्घसञ्ज्ञां लभतेऽल्पसंख्यासमयदेशैश्च सूक्ष्मसञ्ज्ञाम्। त्रीन् प्राणायामानभिधाय चतुर्थमाह– चतुर्थ इति। विषयाक्षेपी– द्वादशाङ्गुल्यादिपर्यन्तो बाह्यो विषयः। हृदयादिराभ्यन्तरो विषयः एतौ द्वावाक्षिप्य भवतीत्यर्थः। अयमपि स्तम्भवृत्तिकः महाकुम्भक उच्यते पूर्वस्मात् कुम्भकादस्यायं विशेषः। पूर्वः श्वासप्रश्वासयोर्विषयानवधारणादक्रमेण जायतेऽयन्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणक्रमेणोभयाक्षेपपूर्वकः प्राणायामः। अस्मात् किम्भवतीत्याकांक्षायां तत्फलमाह– भासेति। भासः प्रकाशः बुद्धेः सात्त्विकः परिणामः। येन यथावद्योगी जानाति तस्य आवारः–आवरणं संसारकारणं क्लेशस्वरूपं कर्म। तस्य क्षतिर्निवृत्ति ततस्तस्मात् प्राणायामाद्भवतीत्यर्थः॥२७॥

प्राणायामैः क्षीणदोषं। मनो यत्र धार्यते तत्र स्थिरं भवति न पुनर्विक्षेपं भजते इति प्राणायामस्य फलान्तरं दर्शयन् प्रत्याहारस्य स्वरूपफले दर्शयति–

धारणास्विति।

धारणासु च योग्यत्वं मनसश्चित्तरूपता।
प्रत्याहारो हृषीकाणां परमावश्यता ततः॥२८॥

॥इति योगमकरन्दे साधनाख्यो द्वितीयः पादः॥

विषयाभिमुख्येन वर्त्तमानानां हृषीकाणामिन्द्रियाणां विषयाभिमुख्यं परित्यज्य या चित्तरूपता चित्तस्वरूपानुकारिता चित्तनिरोधानुरुद्धता स प्रत्याहारः। इन्द्रियाणि प्रति–प्रत्यावर्त्त्य सन्निवर्त्त्य विषयेभ्य आच्छिद्य आहियन्ते आकृष्यन्ते येन स इति विग्रहः। अथवा प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। विषयेभ्यो विच्छेदः। अयम्भावः–चित्तनिरोधेन विषयेभ्यो निरुद्धानीन्द्रियाणि नोपायान्तरमपेक्षन्ते इन्द्रियान्तरनिरोधे त्विन्द्रियान्तरनिरोधवदुपायमपेक्षन्त इति चित्तस्वरूपानुकारितै-वेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः एवमभ्यस्यमानात् प्रत्याहारात्। इन्द्रियाणां परमा उत्कृष्टावश्यकता आयत्तता सम्पद्यते। बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न बाह्यविषयेषु गच्छन्तीन्द्रियाणीति भावः।

॥इति श्रीयोगमर्ज्जर्यां योगमकरन्दव्याख्यानरूपायां
कुलयशस्विशास्त्रिप्रणीतायां द्वितीयः पादः॥

तृतीयः पादः-विभूतिः

पूर्वोक्तेष्वङ्गेषु धारणादीनां विशेषेण स्वरूपादिदर्शयितुमपरं विभूति-पादमारभमाणो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारसिद्ध्युत्तरं निर्बाधे देशे ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन सम्प्रज्ञातसमाधेरभ्यासाय चेतस्स्थिरं कर्त्तव्यमितिधारणामाह– धारणेति।

धारणा देशबन्धस्स्याद् ध्यानं चित्तैकतानता।
समाधिरर्थनिर्भासा त्रयमेकत्र संयमः॥१॥

नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्द्धिन ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिष्वाभ्यन्तरदेशेषु ध्रुवे चन्द्रे सूर्ये पर्वताग्रे इत्येवमादिषु बाह्यदेशेषु वा विषयान्तरपरिहारेण यच्चेतसस्स्थिरीकरणं सा धारणेत्युच्यते। ध्यानमाह– ध्यानमिति। यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तस्मिन्नालम्बने या चित्तस्यैकतानता। विसदृशप्रत्ययप्रवाहपरिहारेण सदृशप्रत्ययप्रवाहीकरणं मनसस्तद्ध्यानम्। ध्यानं यदाऽर्थाकारममावेशादुद्भूतार्थस्वरूपमर्थाकारणैव निर्भासते, तदा तदेव समाधिरुच्यत इति समाधिमाह–समाधिरिति। सम्-सम्यक्। आधीयते– एकाग्रीक्रियत यत्र मनस्स समाधिः चेतसस्समाधानं वा। ध्यानात्समाधेरयं विशेषः। ध्याने ध्यातृध्येयध्यानरूपा त्रिपुटी भासते समाधौ तु ध्येयस्वरूपार्थाकार-निर्भासञ्चित्तं न तत्र सा भासत इति न चाङ्गिनोऽपि सम्प्रज्ञातसमाधेरर्थनिर्भा-सकत्वेनाङ्गाङ्गिनोरभेदः प्रसक्त इति, अङ्गसमाधौ निश्शेषतो ध्येयरूपस्याभानात्। भवेत्तदाङ्गाङ्गिनोरभेदश्चेत्स्यादङ्गसमाधौ निश्शेषतो ध्येयरूपभानमङ्गिनि तु सम्प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये निश्शेषतो ध्येयस्वरूपभानसम्भवादङ्गसमाध्यविषयविषयाणां च भानादित्यङ्गाङ्गिनोर्विभागः। धारणादित्रयस्य तान्त्रिकीं परिभाषामाह– त्रयमिति। एकत्र एकस्मिन्विषये धारणाध्यानसमाधिलक्षणं त्रिकं वर्त्तमानं संयम उच्यते॥१॥

समाधिप्रज्ञायास्संयमजयात् प्रसरो भवतीत्याह– प्रज्ञेति।

प्रज्ञालोको जयात्तस्य नियोगस्तस्य भूमिषु।
अन्तरङ्गं त्रयं तेभ्यो बहिरङ्गं परत्र च॥२॥

तस्य-संयमस्य। जयात्-उत्कृष्टाभ्यासेन स्वायत्तीकरणात्। प्रज्ञाया-स्समाधिप्रज्ञायाः। आलोकः प्रकाशः प्रसरो भवति। संयमस्योपयोगमाह-नियोग इति। तस्य संयमस्य। भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेनावस्थितासु चित्तावस्थासु। नियोगो विनियोग उपयोगः। संयमेन पूर्वां पूर्वां भूमिञ्जित्वा परां परां जयेत् न ह्यकृतसंयमो भूमिविजयी भवति। न हि संयममन्तराजित-पूर्वभूमिरपरां जेतुमीष्टे येन संयमस्यानुपयोगो भूमिषु भवेत्। पूर्वापरभूमिसत्तायान्तु योग एव मानं न हि योगमन्तराऽस्या भूमेरियमनन्तराभूमिरित्यवगन्तुं शक्यते। तथा चोक्तमिदम्भाष्ये- *"भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः कथमेवमुक्तं योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरमिती"*ति सिद्धस्संयमस्य भूमिषु विनियोगः। तदेतत्संयम-सञ्ज्ञकन्धारणादियोगाङ्गत्रयं पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्योऽन्तरङ्गमित्याह- अन्तरङ्गमिति। तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्योप-मादिभ्यः पञ्चभ्यः। धारणाध्यानसमाधिलक्षणं त्रयं सम्प्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातसमाधिस्वरूपनिष्पादकत्वात्। यद्यपि धारणादित्रयस्य सम्प्रज्ञातसमा-ध्यन्तरङ्गत्वमुक्तं, तथापि नैषां त्रयाणामेव समाध्यन्तरङ्गत्वमेषामेकस्मिन्विषय-सत्त्वेऽप्येकदैकत्र सत्त्वाभावान्न हि धारणादशायां ध्यानं न हि ध्यानदशायां धारणाध्याने न हि धारणाध्यानदशायां समाधिस्सम्भवति।

यदि तु समाधिदशायां त्रयाणां स्वीकारः कार्ये कारणस्यानुस्यूतत्वा-दितिध्यानधारणयोरन्तरङ्गत्वमित्युच्येत तदापि कारणरूपेण तयोस्तत्रानु-गतत्वेऽपि न स्वेन रूपेण सम्प्रज्ञातसमाधिजनकत्वमपितु समाधिस्वरूपकार्येणेति न तयोरन्तरङ्गत्वम् यदि च समाधिरपि धारणाध्यानयोः परिपाकावस्थेति समाधिर्न ताभ्यामतिरिच्यत इत्युच्यते, तदा ध्यानमपि धारणायाः परिपाकावस्थेति न धारणास्वरूपतोऽतिरिक्तमिति परिपक्वधारणैव सम्प्रज्ञातसमाधिजनिका। तथा ध्यानसमाध्योः पृथक् समाध्यङ्गत्वसंकीर्त्तनक्षतिरिति योगस्याष्टाङ्गसाध्यत्व-वादोऽपि व्याहन्येत तद्वादसंरक्षणाय स्वरूपतोऽवस्थातो वा कथञ्चिदपि तेषां भेदानुसरणे देशबन्धरूपा धारणा। ध्यातृध्येयध्यानकलनावद्ध्यानम्। ध्यातृध्येयध्यानरूपकलनारहितार्थमात्रावभासकस्समाधिरिति, तेषां त्रयाणामेक-दैकत्र सत्त्वासम्भव इति न ध्यानधारणयोस्सम्प्रज्ञातसमाध्यन्तरङ्गत्वमपितु

समाधेः। धारणादित्रिकस्य सम्प्रज्ञातसमाध्यन्तरङ्गत्वोक्तिस्तु यमाद्यपेक्षया सङ्गच्छत इति धारणाध्यानसमाधिलक्षणत्रयं पूर्वेभ्यो यमादिभ्यस्सम्प्रज्ञात-समाधावन्तरङ्गं परत्र-सम्प्रज्ञातसमाध्यनन्तरजायमानासम्प्रज्ञातसमाधौ बहिरङ्गं पारम्पर्येणोपकारकत्वात् तत्र साक्षादुपकारकस्य सम्प्रज्ञातस्यैवान्तरङ्गत्वम्॥३॥

धारणादित्रिकस्य विशेषमभिधाय सम्प्रति चेतसस्त्रीन् परिणामान् पुरुषातिरिक्तस्य निखिलस्य परिणामित्वं दर्शयितुमभिधत्ते– निरोध इति।

निरोधश्शान्तवाहीकस्समाध्येकाग्रते तथा।
परिणामस्त्रिधा प्रोक्तश्चेतसोऽयं मनीषिभिः॥३॥

मनीषिभिर्योगिभिश्चित्तस्य परिणामधर्मकस्य त्रिधा त्रिप्रकारैः। परिणामः पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरप्राप्तिरूपः। प्रोक्तः-कथितः। तद्यथा निरोधपरिणामः १ समाधिपरिणामः २ एकाग्रतापरिणामः ३ यदा व्युत्थान संस्कारास्तिरोदधते निरोधसंस्काराश्च प्रादुर्भवन्ति, तदा निरोधलक्षणचित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यस्स निरोधपरिणामः। स च सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चेतसश्शान्तिमाधत्ते। यदा सर्वार्थरूपस्य विक्षेपस्य क्षय एकाग्रतायाश्चाविर्भावस्तदैकाग्रतालक्षण-चित्तस्यान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणामस्स च विक्षेपं प्रतिक्षिप्य चित्तैकाग्र्यं विधत्ते पूर्वस्मादस्यायं विशेषस्तत्र व्युत्थानसंस्काराणां निरोध उद्भवश्चोत्तराणां निरोधसंस्काराणामिह तु विक्षेपस्यात्यन्तप्रतिक्षेपाद् व्युत्थानसंस्काराणां पुनरनुत्पाद एकाग्रतायाः समुद्भवः। यदा समाहितः चित्तस्यैको वृत्तिविशेषः शान्तोऽपरस्तु-वर्त्तमानस्तदोभयत्र समाहितचित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानमेकाग्रतापरिणामस्स चैकाग्रताया दृढीकरणेनाचिरेण समाधिमुद्भावयति। समाधिपरिणामादस्यायं विशेषः समाधिपरिणामे विक्षेपात्यन्तप्रतिक्षेपेणैकाग्रतासमुत्पादोऽत्र तु द्वावपि समाहितचित्तत्वेनैकरूपालम्बनत्वेन च सदृशी प्रत्ययावित्युक्तश्चेतसस्त्रिधा परिणामः। चित्तपरिणामवद्भूतेन्द्रियेष्वपि धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः परिणाम-साम्याद् बोद्धव्या इत्याह– भूतेन्द्रियेष्विति।

भूतेन्द्रियेषु तेनैव परिणामाः प्रकीर्त्तिताः।
धर्मीधर्मानुपातौ स्याद्धर्माश्शान्तादयो मताः॥४॥

तेन–त्रिविधेनोक्तचित्तपरिणामेन। भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु पृथिव्यप्तेजोवाय्वा-

काशेषु। इन्द्रियेषु-श्रोत्रत्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दीर्भेद्वाङ्घ्रिपायुषु। परिणामाः-धर्मलक्षणावस्थारूपास्त्रयः प्रकीर्त्तिताः। तत्र धर्मपरिणामो नामावस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मत्यागेन धर्मान्तरेणावस्थानम्। अनागतत्वं विहाय वर्त्तमानत्वेन वर्त्तमानत्वं च विहायातीतत्वेनावस्थानं लक्षणपरिणामः। न हि क्षणमप्य-परिणम्यावतिष्ठते चित्यतिरिक्तं चलवृत्तमिति सर्वे चितिव्यतिरिक्ताः परिणामिनः। अथ कोऽयं धर्मी यस्यैते परिणामा इत्यपेक्षायां धर्मिस्वरूपमाह-धर्मीति। शान्तादय इति भावप्रधानतया निर्देशो यथा द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इत्यत्रान्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्। आदिना चोदिताव्यपदेश्यादीनां स्वीकारस्तथा च कृतस्वव्यापारकत्वं शान्तत्वम्। क्रियमाणव्यापारकत्वमुदितत्वम्। करिष्यमाण-व्यापारकत्वमव्यपदेश्यत्वम्। धर्मान् योऽनुपपति-अनुवर्त्तते-स्वीकुरुते। स धर्मी यथा हेममृत्पिण्डादिकं मृत्पिण्डो घटरूपतो धर्मान्तरमुपसम्पद्यमानो धर्मतः परिणमते स च घटाकारोमृत्पिण्डस्य धर्मपरिणामः। स च शान्त-त्वादीन्धर्माननुवर्त्तमानस्तदपेक्षया धर्मीत्यप्युच्यते मृत्पिण्डश्च घटरूप-धर्मापेक्षया। स एव घटाकारोऽनागतलक्षणं हित्वा वर्त्तमानलक्षणं वर्त्तमानलक्षणं च हित्वाऽतीतलक्षणं यदा प्रतिपद्यते, तदा लक्षणतः परिणमतेऽतीतत्वादयश्च घटस्य लक्षणपरिणामाः यदपेक्षया घटस्य धर्मित्वमुक्तम्। तस्यैव घटस्य नवपुराणताद्यवस्था-अवस्थापरिणामः। नवपुराणत्वाद्यपेक्षयापि घटो धर्मीतिसर्व-स्स्वधर्माननुवर्त्तमानो धर्मीत्युच्यते॥४॥

ननु कथमेकस्य धर्मिणोऽनेके परिणामाः परिणामनानाविधत्वे ज्ञापक-हेतोरभावादितिज्ञापकमाह- परिणामान्यतेति।

परिणामान्यताहेतुः क्रमभेदः प्रकीर्त्तितः।
अतीतानागतज्ञानं निरुक्तत्रयसंयमात्॥५॥

शब्दार्थप्रत्ययानां च सङ्करोऽध्यासहेतुकः।
सर्वभूतरुतज्ञानं तत्प्रविभागसंयमात्॥६॥

धर्माणां यः क्रमस्तस्य यो भेदः प्रतिक्षणमन्यत्वं परिणामान्यतायां परिणामनानाविधत्वे हेतुः-ज्ञापकम्। क्रमश्च समनन्तरं जायमानो धर्मः। यथा मृच्चूर्णस्य तस्याः पिण्डस्तस्य कपालस्तस्य घट एष धर्मपरिणामक्रम उच्यते- लक्षणपरिणामक्रमश्च घटस्यानागतभावाद्वर्त्तमानभावः। वर्त्तमानभावाद-

तीतभावः। अतीतस्य च नास्ति क्रमस्तदनन्तरधर्माभावान्न च वाच्यमस्त्यतीतस्य समनन्तरो वर्त्तमान इति मुक्तानां पुनस्संसारप्रसक्तेः। मुक्तानां संसारहेतूपाधेरतीतस्य वर्त्तमानत्वास्वीकारात्संसारोच्छेदोऽभिमतः सम्प्रति तस्य वर्त्तमानत्वाङ्गीकारान् मुक्तानां पुनः संसारप्रसक्तिर्दुरुद्धरेति नातीतस्य क्रमः। अवस्थापरिणामक्रमश्च घटस्याभिनवस्य जीर्णत्वपुराणत्वादिस्तथा च क्रमभेदज्ञाप्यपरिणामभेदात्परिणाममानधर्मिभेदोऽपि सम्भवति तद्यथा मृत्क्रमज्ञाप्यपरिणामभेदाच्चूर्णरूपधर्मिभेदः पिण्डक्रमज्ञाप्यपरिणामभेदान् मृद्रूपधर्मिभेदः। कपालक्रमज्ञाप्यपरिणामभेदात्पिण्डरूपधर्मिभेदः। घटक्रमज्ञाप्यपरिणामभेदात्कपालरूपधर्मिभेदः। एवमनागतादिक्रमज्ञाप्यपरिणामभेदादपि परिणाममानधर्मिभेदोऽवगन्तव्यः। यद्वा क्रमभेद इत्यत्र क्रमपदव्यपदेश्यः कालः। सम्भवति कालभेदादप्येकस्य धर्मिणोऽनेकपरिणामयोगितेतिकालभेद एव परिणामान्यतायां हेतुः। इदानीं धारणाध्यानसमाधिरूपस्योक्तसंयमस्य सिद्धीः प्रतिपादयन्नादौ धर्मलक्षणावस्थापरिणामसंयमसिद्धिम्प्रतिपादयति। अतीतेति। निरुक्तत्रयं धर्मलक्षणावस्थापरिणामलक्षणं तत्रसंयमात्। साक्षात्क्रियमाणं परिणामत्रयं परिणाममानधर्मिषु तत्परिणामेषु चातीतानागतज्ञानमुत्पादयति। एतेन वर्त्तमानेष्वपि परिणाममानधर्मितत्परिणामेषु ज्ञानं सूचितं वेदितव्यं कण्ठतस्तदनुक्तिस्तु वर्त्तमानज्ञानस्य मध्यपातित्वेनोभयाभिधानेनैवाभिहितत्वात्सर्वसिद्धत्वाद्वा न च वर्त्तमानज्ञानस्य सर्वसिद्धत्वेन योगिनस्तत्र न कोऽपि विशेष इति वाच्यम्।

योगिनस्संयमबलेन विप्रकृष्टसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मभावेन स्थितानां सर्वेषां वर्त्तमानानां परिणाममानधर्मितद्धर्माणां ज्ञानसम्भवात्। नहि विप्रकृष्टव्यवहितसन्निहितसूक्ष्मस्थूलभावेनावस्थिता वर्त्तमानपरिणामधर्मास्तद्वन्तो धर्मिणश्चार्वागृदृशामकृतसंयमानां ज्ञानगोचरीभूतताम्भवितुमर्हास्तस्मात्परिणामत्रयसंयमाद्योगिनामनागतवर्त्तमानातीतपरिणाममानधर्मिणां तद्धर्माणां च ज्ञानमुत्पद्यते इति योगिनो विशेषः। निरुक्तत्रयसंयमादित्युक्त्या त्रिष्वेव परिणामेषु संयमादतीतानागतवर्त्तमानज्ञानं दर्शितं न तु प्रत्येकसंयमात् प्रत्येकसंयमे तु धर्मपरिणामसंयमादतीतज्ञानम्। लक्षणपरिणामसंयमादनागतज्ञानम्। अवस्थापरिणामसंयमाद्वर्त्तमानज्ञानमितिक्रमः। न चास्य वैपरीत्यानङ्गीकारे किन्नियामकमितिवाच्यम्—वर्त्तमानतयाऽवस्थितस्यैव धार्मिणोऽभिनवत्वपुराणत्वकोमलत्वकठिनेत्याद्यवस्थासम्भवादित्यवस्थापरिणामसंयमेन वर्त्तमानज्ञानसम्भवः।

भविष्यत्वहानं विना वर्त्तमानलक्षणत्वासम्भवादितिभविष्यद्भावेनावस्थितस्य लक्षणपरिणामेन ज्ञानसम्भवः। वर्त्तमानस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तिमन्तराऽतीतताऽसम्भवादित्यतीततयाऽवस्थितस्य धर्मपरिणामसंयमेन ज्ञानसम्भव इत्युक्ताः परिणामत्रयसंयमसिद्धयः॥५॥

वर्णध्वनिरूपस्य शब्दस्य सकलार्थानुगतजातिरूपस्यार्थस्य च तद्विषयकस्य बोधस्य च बुद्ध्येकरूपतासम्पादनादन्योन्यसङ्कीर्णत्वं तेषां च प्रविभागं विधाय विभक्तः शब्दः। विभक्तोऽर्थः। विभक्तः प्रत्ययः इति तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां मृगपशुपक्ष्यादीनामयं पशुरनेन शब्देनामुमर्थम्बोधयति—अयं विहगोऽनेन रवेणामुमाह्वयति। अयं मृगोऽनेन वचसैवं ब्रवीति सर्वभूतशब्दज्ञानमुत्पद्यत इत्याह— शब्दार्थेति॥६॥

संस्कारप्रत्ययथयोः संयमसिद्धिमादर्शयति— पूर्वजातीति।

पूर्वजातिपरिज्ञानं संस्कारसंयमादपि।
प्रत्यये परचित्तस्य ज्ञानं संयमतो मतम्॥७॥

न तत्सालम्बनं तस्याविषयत्वाच्च योगिनः।
संयमात्कायरूपस्य तद्ग्राह्यत्वनिवर्त्तनम्॥८॥

द्विविधा संस्काराः। स्मृत्युत्पादनहेतवो वासनाख्याः। जात्यायुर्भोगहेतवो धर्माधर्माख्याः। तेषु संयमात् पूर्वासामतीतानां जातीनां जन्मनां परिज्ञानं साक्षात्कारो जायते जातीत्युपलक्षणं पूर्वदेशकालकुलकर्मणामपिसाक्षात्कारो जायते तत्राप्ययं विवेकः। वासनाख्यसंस्कारमात्रसंयमात् पूर्वजातिस्मरणमात्रम्भवति धर्माधर्माख्यसंस्कारसंयमात्तु जात्यायुर्भोगमात्रसाक्षात्कारः। उभयविधसंस्कारसंयमात्तु अमुष्मिन्देशेऽमुष्मिन् कुले विष्णुशर्माहं भूत्वाऽमुष्मिन् कालेऽद:कर्माकार्षमित्यादि सर्वं साक्षात्क्रियते धर्माधर्माख्यसंस्कारसंयमाद्भाविजन्मापि साक्षात्क्रियते योगिनेऽत्यपि वेदनीयम्। केनचिन्मुखरागादिलिङ्गेन गृहीते प्रत्यये संयमतः परचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागं विरागं वेति। ननु मुखरागादिलिङ्गेन सरागं विरागं वा परचित्तमित्ययोग्यप्यध्यवसातुं क्षमते तत्र कृतसंयमस्य योगिनः को विशेष इति चेत् विशेषतः परचित्तविषयज्ञापकलिङ्गालाभेऽपि योगिनस्तज्ज्ञानसम्भव इति विशेषः॥७॥

चित्तमात्रमेव योगी जानाति सरागं विरागं वेति नामुष्मिन्विषये सरागं विरागं वेति जानाति रागविरागालम्बनीभूतविषयस्य संयमेनाविषयीकृतत्वादित्याह– न तदिति। सालम्बनं सविषयम्। तत् चित्तम्। न जानाति। तस्य आलम्बनस्या– विषयत्वात् योगिनः। संयमेनासाक्षात्कृतत्वात्। सविषयप्रत्ययसंयमे तु सालम्बनस्यापि परचित्तस्य ज्ञानं सम्भवति तदालम्बनस्य विषयीकृतत्वादिति भावः कायरूपसंयमसिद्धिमाह– संयमादिति। कायरूपस्य संयमात्तत्र रूपे या ग्राह्यत्वरूपा शक्तिस्तस्या निवर्त्तनं प्रतिबन्धो भवतीत्यर्थः॥८॥

शक्तिप्रतिबन्धे सति फलमाह– अन्तर्धानगतिरिति।

अन्तर्धानगतिश्चक्षुः प्रकाशायोगसम्भवात्।
अपरान्तपरिज्ञानमायुर्विपाकसंयमात्॥९॥

ग्राह्यत्वं शक्तिमद्रूपवता साकं सात्त्विकचक्षुः प्रकाशसंयोगस्य प्रत्यक्षजनकत्वेन योगिना कायरूपे संयमेन तस्या निवर्त्तितत्वादितिचक्षुःप्रकाशसंयोगासम्भवादन्तर्धानमुत्पद्यते योगिन इति भावः। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमप्युक्तं वेदितव्यं तद्यथा शब्दे संयमाद् धावतो योगिनः पादतलशब्दं पठतश्च पाठङ्करतालिकां वादयतश्च करतालिकां गायतश्च गानं न परः कश्चिच्छृणोति। रससंयमात्तु न योगिकायरसमास्वादयन्ति दंशमत्कुणादयः। गन्धसंयमात्तु न तत्कायं कश्चिज्जन्तुर्जिघ्रति। स्पर्शसंयमान्न तं कश्चित् स्पृशति। सिद्ध्यन्तरमाह– अपरान्तेति। आयुर्विपाकं कर्मद्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च यत्फलजननाभिमुख्येन वर्त्तते तत्सोपक्रमं तद्विपरीतं च निरुपक्रमं तत्र संयमात् किं शीघ्रविपाकं किञ्चिदविपाकमितिधारणादिदाढर्यादपरान्तस्य शरीरवियोगस्यामुष्मिन् देशे काले वा मम शरीरवियोगो भविष्यतीति ज्ञानमुत्पद्यते संयमिनः॥९॥

अपरान्तज्ञानस्य सर्वसाधारणमुपायान्तरं निर्दिशति– अरिष्टेभ्य इति।

अरिष्टेभ्योऽथवोदेति मैत्र्यादिषु बलानि च।
बलेष्वश्वबलादीनि जायन्ते तस्य संयमात्॥१०॥

पिहितकर्णस्य कोष्टगतवायुघोषाश्रवणविकृतपुरुषदर्शनस्वर्गादिदर्शनसन्तप्तघृतादिषु मुखाद्यवयवादर्शनादीन्यरिष्टानि एभ्यः शरीरवियोगं सर्वो

जानाति। तत्र योग्ययोगिनोरयं भेदः। योगो निश्चयेनायोगो तु संशयेन जानाति। मैत्रीकरुणामुदितासु संयमात्सिद्धिमाह– मैत्र्यादिष्विति। मैत्र्यां संयमात्सर्वाण्यस्य सर्वेषां चायं मित्रत्वे प्रतिपद्यते एवं करुणादिष्वपि वेदितव्यम्। यत्र क्वचिद्धस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्येश्वबले वाऽऽत्मीयत्वं भावयतोऽस्य संयमिनस्तद्युक्तत्त्वमाविर्भवतीत्याह– बलेष्विति। अश्वबले संयमादश्वबलो भवति हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति सिंहवीर्ये संयमात्सिंहवीर्यो भवति, वायुवेगे संयमाद्वायुवेगो भवतीत्यादि॥१०॥

ज्योतिष्मती या मनसः प्रवृत्तिरुक्ता तस्या य आलोकस्तस्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु विन्यासात्तमर्थमधिगच्छतीत्याह– प्रवृत्तीति।

प्रवृत्त्यालोकविन्यासात् सूक्ष्माद्यर्थपरिग्रहः।
भुवनावगमस्सूर्ये संयमाच्चन्द्रसंयमे॥११॥

ताराव्यूहपरिज्ञानं ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्।
कायव्यूहं विजानाति कृत्वा नाभौ तु संयमम्॥१२॥

सूर्ये यस्संयमं करोति तस्य भूर्भुवादिसप्तभुवनज्ञानमुत्पद्यत इत्याह– भुवनेति। चन्द्रे संयमे कृते सति ताराणां सन्निवेशस्य ज्ञानमुत्पद्यत इत्याह–चन्द्रेति। ज्योतिः प्रधाने निश्चले ध्रुवे कृतसंयमस्य ताराणां गत्यादि-ज्ञानमियं तारा अयं ग्रहश्चेयताकालेन गच्छतीत्येवं रूपमुत्पद्यत इत्याह– ध्रुव इति। बाह्यसिद्धीः प्रदर्श्य सम्प्रत्याभ्यन्तरसिद्धीः प्रदर्शयितुमुपक्रमते– कायेति। नाभौ–षोडशारे नाभिचक्रे संयमं कृत्वा योगी काये यो व्यूहो विशिष्टरसनाड्याद्यवस्थानं तं विजानाति साक्षात्करोतीत्यर्थः॥११॥१२॥

जिह्वाया अधस्तात्तन्तुस्ततोऽधस्तात् कण्ठस्ततोऽधस्तात् कूपस्तत्र संयमाद्योगिनः क्षुत्पिपासे न बाधेते इत्याह– संयमादिति। कण्ठतोऽधस्ताद्-गर्त्ताकार प्रदेशो यस्तत्स्पर्शात्प्राणादीनां क्षुत्पिपासे बाधेते तस्मिन् कृतसंयमस्य क्षुद्धेतुकस्पर्शाभावात् क्षुत्पिपासे निवर्तेते इति भावः। कण्ठकूपस्याधस्तादुरसि कूर्माकारा कूर्माख्या नाड़ी तस्यां कृतसंयमस्य चेतः स्थिरपदं लभते इत्याह– स्थिरत्वमिति।

संयमात्कण्ठकूपे तु निवृत्तिः क्षुत्पिपासयोः।
स्थिरत्वं कूर्मनाड्यां च ज्योतिषिसिद्धदर्शनम्॥१३॥

शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यमन्तःछिद्रं प्रकाशत्वाज्ज्योतिरभिधीयते तत्र ज्योतिषिकृतसंयमस्य सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम्भवतीत्याह– ज्योतिषीति॥१३॥

सर्वज्ञानोपायमाह– सकलमिति।

सकलं प्रातिभाद्वेत्ति हृदये चित्तवेदनम्।
पुरुषविषया प्रज्ञा पौरुषबोधसंयमात्॥१४॥

प्रागुत्पद्यमानं यथार्थज्ञानं प्रतिभाः तस्यां संयमे क्रियमाणे यत्संयमान्तरानपेक्षं विवेकजज्ञानस्य पूर्वरूपं तारकं ज्ञानमुदेति तत्प्रातिभमुच्यते। तस्माद्योगी सकलं सर्वं वेत्ति जानातीत्यर्थः यथोदेश्यतस्सवितुः प्राक् तत्प्रभयैव निखिलपदार्थप्रकाश एवमुत्पत्स्यमानविवेकजज्ञानात्प्राक्तारकेण प्रातिभेनैव सकलविषयप्रकाश इति हृदयम्। यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मतद्धृदयं तत्कृतसंयमः परचित्तगतं सर्वं जानातीत्याह– हृदय इति। पुरुषज्ञानमाहपुरुषेति। पौरुषस्वरूपमात्रावलम्बनो यो बोधः परित्यक्ताहङ्कारे चित्तसत्त्वे चिच्छायासङ्क्रमस्तत्र संयमात् पुरुषविषया प्रज्ञा पुरुषज्ञानमुत्पद्यते॥१४॥

पौरुषेयबोधसंयमोत्पन्नोक्तज्ञानफलमाह– तत इति। ततः पुरुषविषयायाः प्रज्ञायाः।

ततः प्रातिभमादर्शः श्रावणं वेदना तथा।
वार्त्ताऽऽस्वादश्च जायन्ते दिव्यज्ञानानि योगिनः॥१५॥

प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानम्। आदर्शश्चाक्षुषं ज्ञानम्। श्रावणं श्रोत्रजं ज्ञानम्। वेदना स्पार्शनं ज्ञानम्। वार्त्ता घ्राणजं ज्ञानम्। आस्वादो रासनं ज्ञानम्। ननु सर्वस्यैवैतादृशानि ज्ञानानि जायन्ते तेषु पुरुषज्ञानस्य क उपयोग इत्याह– दिव्येति। आदर्शस्य दिव्यरूपं विषयः। श्रावणस्य दिव्यो गन्धः। आस्वादस्य दिव्यो रसः॥१५॥

प्रातिभादयः पूर्वोक्ताः फलविशेषास्समाहितचित्तस्योत्पद्यमानास्समाधावुपद्रवा भवन्ति व्युत्थाने च सिद्धय इत्याह– समाधाविति।

समाधावुपसर्गास्ते व्युत्थाने सिद्धयो मताः।
बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारावगमादपि॥१६॥

चित्तस्य निक्षिपेद्योगी चित्तं देहान्तरेषु च।
अभङ्गो जलपङ्कादावुदानमरुतो जयात्॥१७॥

पुरुषज्ञानस्य कालप्रवेशरूपं फलान्तरं दर्शयति–बन्धेति। व्यापिनोरात्मचित्तस्य कर्मविशेषेण यच्छरीरान्तर्वेदनं स बन्धस्तस्य कारणं यो धर्मरूपः कर्माशयस्तस्य यदा निरुक्तपुरुषज्ञानाच्छैथिल्यम्भवति, तदा चित्तं बहिश्चरति बहिश्चरतस्तस्य यः प्रचारः हृदयाद्विषयाभिमुखेन गमनं तस्यावगमादनेन प्रकारेण चित्तं बहिश्चरतीति ज्ञानात्। चित्तवहनाड्यादिकं यो योगी जानीयात्स चित्तं देहान्तरेषु परशरीरेषु निक्षिपेदावेशयेत् निक्षिप्ते च चेतसि मधुकरराजमनुमक्षिका इव तदन्विन्द्रियाण्याविशन्ति; तथा च सजीवं मृतं वा शरीरमाविश्य सर्वत्राभिर्विहरति। प्राणापानसमानव्यानोदानसमानाः पञ्चप्राणवायवः। हृदयान्मुखनासिकाग्रेण प्रणयनात्प्राण उच्यते नाभिप्रदेशात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपान उच्यते व्याप्यनयनात्सर्वशरीरव्यापी व्यान उच्यते कृकाटिकादेशादाशिरो वृत्तेरुर्द्धं नयनादुदान उच्यते नाभिं संवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समान उच्यते। तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां निरोधाच्च जलपङ्ककण्टकादिषु न सज्जत इत्याह– असङ्ग इति। जले नद्यादौ। पङ्के कदमे। आदिना कण्टकादिपरिग्रहः। तेषु गच्छतोऽप्यस्यैषां स्पर्शो न भवति॥१६॥१७॥

उदाजनस्य फलान्तरमाह– उत्क्रान्तिरिति।

उत्क्रान्तिश्च भवेज्ज्वालस्समानमरुतो जयात्।
सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रमाकाशशब्दयोः॥१८॥

सम्बन्धसंयमात् कायाकाशयोर्लघुमत्स्वपि।
समापत्तेश्च सिद्धस्य गतिराकाशमण्डले॥१९॥

उदानजयेनातिलघुत्वाज्जलादौ मग्नोऽपि तूलपिण्डवदूर्द्धमागच्छति न तत्र निमज्जतीत्युत्क्रान्तिशब्दार्थः। समानजयसिद्धिमाह– ज्वाल इति। समानस्य मरुतो वायोः प्राणस्य संयमद्वारेण जयाद्वशीकरणात्। ज्वालोज्वलनम्भवति। अग्नेस्तेजसा ज्वलन्निव योगो प्रकाशते कदाचित्तेन तेजसा शरीरमपि दहति;

यथा सती भवपत्नी पित्रापराधकुपिता स्वेन तेजसा शरीरं ददाहेति पुराणप्रसिद्धिः। श्रोत्रदिव्यत्वोपायमाह– सम्बन्धेति। आकाशश्रोत्रयोर्देशदेशिभावरूपसम्बन्धस्य संयमाद् दिव्यं दिव्यशक्तिमच्छ्रोत्रं श्रवणेन्द्रियं भवति येन युगपत् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टशब्दान्– शृणोति।

कायाकाशसम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्च लघुत्वाज्जले पादाभ्यां विहरति ततस्तूर्णं तन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरश्मीनालम्ब्य यथेष्टमाकाशेन गच्छतीत्याह– सम्बन्धेति। लघ्विति भावप्रधानो निर्देशः। लघुत्ववत् सुतूला-दिष्वित्यर्थः॥१८-१९॥

शरीरनिरपेक्षा बहिर्मनसो वृत्तिर्महाविदेहाऽकल्पिता। शरीरसापेक्षा मनसो वृत्तिर्विदेहा कल्पिता। कल्पितयाऽकल्पितां महाविदेहां प्रसाध्य परकायेऽपि प्रवेष्टुमीष्टे तयैवाकल्पितया महाविदेहया योगिनस्सात्त्विकप्रकाशावरणरूप-क्लेशादिक्षयो भवतीत्याह– बहिरिति।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्विदेहा महती ततः।
योगिनो यतचित्तस्य प्रकाशावरणक्षयः॥२०॥

बहिरित्यतः प्राक् मनस इति पूरणीयम्॥२०॥

पञ्चभूतानां स्थूलत्वादिषु पञ्चसु धर्मेषु संयमाद् भूतजयो भवतीत्याह– स्थूलेति।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वय्यर्थवत्त्वेषु संयमात्।
भूतजयस्ततोऽणिमादिप्रादुर्भावोऽस्य जायते॥२१॥

स्थूलं भूतानां दृश्यमानं विशिष्टं रूपं स्वरूपं गन्धस्नेहोष्णता प्रेरणा-वकाशदानलक्षणं कार्यं सूक्ष्मं तन्मात्राणि। अन्वयिनस्सर्वत्र कारणतयाऽनुगता गुणाः। अर्थवत्त्वं गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनशक्तिः। एषु पञ्चरूपेषु संयमाद् भूतजयो भवति। भूतजयफलमाह– तत इति। आदिना अणिमालघिमा-महिमागरिमाप्राप्तिप्राकाम्येशित्ववशित्वानि गृह्यन्ते। तत्राणिमा-अणुभावो येन शिलामपि प्रविशति। लघिमा-लघुभावो यतस्सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं गच्छति। महिमा-महतो भावो यतो महान् भवति। गरिमा-गुरोर्भावो गुरुत्वं यतोभवति यस्मिन् सति न तं कश्चिच्चालयितुं क्षमते। प्राप्तिः-स्थितस्यापीष्ट-

देशेनावयवसम्बन्धो यतश्चन्द्रमसमङ्गुल्यग्रेण स्पृशति। प्राकाम्यम्—इच्छानभिघातः। ईशित्वम्—भूतभौतिकानां स्थितिमीष्टे। वशित्वम्— भूतभौतिकान्यस्य वशे गच्छन्ति॥२१॥

भूतजयस्य फलान्तरमाह— तद्धर्मेति। तदा बुद्धिस्थ- योगिकायपरामर्शः। तस्य योगिकायस्य ये धर्मारूपादयस्तेषामनभिघातोऽनाशो भवति नास्य कायरूपादेर्वाय्वादिना शोषादिकं भवति चकारः फलान्तरसूचकः। ततोऽपि च तद्धर्मानभिघातादपि च कायसम्पदुत्पद्यते। का कायसम्पदितिस्वरूपाकाङ्क्षायामाह— कायेति।

तद्धर्मानभिघातश्च कायसम्पत्ततोऽपि च।
कायसम्पद्बलं रूपलावण्यं वज्रसंहतिः॥२२॥

यदाऽस्य कायरूपादेर्वह्निवाय्वादिना दाहशोषादिकं न भवति दर्शनीयोऽतिशयबलो वज्रसं हननश्च तदा भवतीति भावः। यद्वा तद्धर्मेत्यत्र पूर्वोक्तपञ्चभूतानां तदा परामर्शस्तथा चायमर्थः। तेषां पृथिव्यादिपञ्चभूतानां ये धर्मामूर्त्त्यादयस्तैरनभिघातोऽनिरोधो योगिकायस्य भवति नास्य कायक्रियां पृथिवीमूर्त्त्या रुणद्धि; यतो भूतलस्याधस्तात्तलादिकमपि गन्तुं समर्थो भवति। नास्य कायं स्निग्धा आपः क्लेदयन्ति यतो वर्षसहस्रान्तमपि जलेऽवतिष्ठते नास्य कायं वह्निर्दहति; यतो वह्निमध्येऽपि विहरति। नास्य कायं वायुश्शोषयितुमुत्पातयितुं वेष्टे यतो निष्कम्पोऽशुष्यद्वदनाद्यङ्गश्चिरं गिरिवनादौ निदाधेऽप्यभयं समास्ते नास्य कायं गगनमनावर्त्तुं शक्नोति यतोऽनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृत्तकायस्सिद्धानामप्यदृश्यो भवतीति भूतधर्मानभिघातः। ततोऽपि चेत्यत्रापि च योऽवधारणार्थत्वाङ्गीकारेण तत इत्यनेन च निरुक्तभूतपञ्चकस्वीकाराद् भूतजयादेवेत्यर्थो लभते॥२२॥

इन्द्रिययोपायमाह— संयमादिति। स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वान्यादिपदार्थाः।

संयमाद्ग्रहणादीनामिन्द्रियविजयो भवेत्।
ततो मधुप्रतीकाः स्युर्विवेकख्यातिमात्रतः॥२३॥

अधिष्ठा सर्वभावानां सर्वज्ञातृत्वमेव च।
वैराग्यादपि कैवल्यं दोषबीजपरिक्षये॥२४॥

ग्रहणम्–इन्द्रियाणां विषयाभिमुखीवृत्तिः। स्वरूपम्–सामान्येन प्रकाशः। अस्मिता–अहङ्कारानुगमः। अन्वयर्थवत्त्वे पूर्वोक्ते। इन्द्रियजयफलमाह– तत इति। तत इन्द्रियजयात्। मधुप्रतीकास्तिस्रस्सिद्धयो भवन्ति। मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च मधुप्रतीकाः शरीरस्य मनोवद्गतिलाभो मनोजवित्वम्। कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्ववशित्वं प्रधानजयः। इदानीं सपादार्द्धकेनान्तःकरणजयमाह– अन्तःकरणे कृतसंयमस्य यत् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपं विवेकख्यातिमात्रं तस्मात् सर्वभावानामधिष्ठाऽधिष्ठानमधिष्ठातृत्वम्। सर्वज्ञातृत्वं च भवति–इयं विशोका नाम सिद्धिरप्युच्यते यां प्राप्य योगी सर्वज्ञो मुक्तबन्धनो यथेष्टमापद्यते। एतस्यां विशोकायां सिद्धावपि यदा वैराग्यं जायते तदा सर्वदोषबीजाविद्यानाशे आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिस्सम्पद्यते इत्याह–वैराग्यादिति॥२३॥२४॥

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमल्पिकः १ मधुभूमिकः २ प्रज्ञाज्योतिः ३ अतिक्रान्तभावनीयः ४ तत्र प्रथमोऽभ्यासः प्रवृत्तमात्रज्योतिः। न त्वनेन परचित्तादिगोचरज्ञानरूपं ज्योतिर्वशीकृतम्। ऋतम्भराप्रज्ञाद्वितीयानिरुक्तमधुप्रतीकासिद्धिमान्। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः। कृतकर्त्तव्यसाधनो यस्य सप्तधाप्रान्तभूमिः प्रज्ञोक्ता स चतुर्थः। तत्र प्रथमस्य स्थानस्वामिनो देवा नोपनिमन्त्रयितारो भवन्ति भो दिव्यान् भोगान् भुङ्क्ष्येति। यतस्सोऽभ्यासमात्र एव प्रवृत्तोऽसम्पादितदिव्यसुखभोगसाधनः। नापि द्वितीयस्योपनिमन्त्रयितारो देवा यतस्सोऽभ्यासं कृत्वा भूतेन्द्रियमात्रजयसम्पादितसकलसाधनः चतुर्थश्च नोपनिमन्त्रयतामपि देवानामुपनिमन्त्रणं शृणुते क्षुद्रीकृत्य देवतीयभोगान् सम्पादितानुत्तमसुखसाधन इति मधुमतीं भूमिं साक्षात् कुर्वतस्तृतीयस्य योगिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्तीति स्थान्युपनिमन्त्रणे नानेन तृतीययोगिना संगस्मयौ कर्त्तव्यौ यतस्संगस्मयकरणे समाध्युत्सन्नोत्साहः पुनर्घोरसंसाराङ्गारेषु पापच्यत इति तृतीययोगिनम्प्रत्याह– स्थानीति।

स्थानिनिमन्त्रणे सङ्गाभिमत्यकरणं पुनः।
अनिष्टात्तद्विवेकोत्थं ज्ञानं क्षणक्रमे यमे॥२५॥

सङ्गोविषयाभिलाषः। अभिमतिरभिमानः—स्मयः—अहं सर्वप्रार्थनीय इति ज्ञानम्। वक्ष्यमाणभेदप्रतिपत्तिहेतुज्ञानस्वरूपमाह— तदिति। क्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामः। तत्र संयमाद्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तद् विवेकोत्थं विवेकजं ज्ञानमुच्यते॥२५॥

तस्य फलं दर्शयितुमाह— अन्यतयेति।

अन्यत्वेनानवच्छेदोद्देशलक्षणजातिभिः।
तुल्ययोस्तु ततो ज्ञानं सर्वविषयमक्रमम्॥२६॥
सर्वथा विषयं ज्ञानं तारकं च विवेकजम्।
सत्त्वपुरुषयोश्शुद्धिसाम्ये कैवल्यमीरितम्॥२७॥

॥इति योगमकरन्दे तृतीयो विभूतिपादः॥

अन्यत्वेन भिन्नत्वेन। अनवच्छेदात् अग्रहात्। पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति जात्या भेदो यथाऽयं करटोऽयं सरटः। जात्या तुल्योर्लक्षणेन भेदो यथाऽयं गौः शुक्लोऽयं रक्तः। जातिलक्षणाभ्यां तुल्यपरिमाणयोर्द्वयोरामलकयोरयं पूर्वभागस्थोऽयं पृष्ठभागस्थ इति यदा जातिलक्षणदेशेभ्यस्तुल्ययोरुभयोर्भेदप्रतिपत्तिर्न जायते तदा तुल्ययोर्ज्ञानं ततो विवेकजात् क्षणक्रमसंयमोत्थाज्ज्ञानाद् भवति तदेव वर्द्धमानं सर्वविषयं सर्वथा युगपदवगाहमानं सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्येन कैवल्यहेतु भवतीत्याह— सर्वविषयमिति। सर्वाणि महदादीनि विषया यस्येति सर्वविषयं भाव्यपि विद्यमानत्वेन युगपच्च विषयीकरोत्यतोऽक्रमम्। अतीतादिसर्वविषयत्वात्सर्वै रूपादिधर्मैर्विषयावगाहनाच्च सर्वथाविषयमुच्यते संसारार्णवतारणादिदमेव तारकम्। सत्त्वशुद्धिः सत्यां विवेकख्यातौ बुद्धितत्त्वस्य कार्याजननम्। पुरुषशुद्धिर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तिः। बुद्धितत्त्वस्य कर्तृत्वादिनिवृत्त्या कारणे लये सति पुरुषस्योपचरितभोगनिवृत्त्याऽऽत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः कैवल्यं मोक्षः॥२६॥२७॥

॥इति श्रीयोगमञ्जर्य्यां योगमकरन्दव्याख्यानरूपायां
कुलयशस्विशास्त्रिप्रणीतायां तृतीयो विभूतिपादः॥

चतुर्थः पादः-कैवल्यम्

सम्प्रति कैवल्याख्यं चतुर्थपादमारभमाणस्तत्रादौ सिद्धीनामनेकजत्वं सूचयति– जन्मौषधीति।

जन्मौषधितपोमन्त्रसमाध्युत्पन्नसिद्धयः।
पूरणात्प्रकृतीनान्तु परिणामोऽन्यजन्मनः॥१॥

जन्मसिद्धिर्यथा कपिलस्य। स्मरन्ति हि सांङ्ख्यप्रवर्त्तकः कपिलो महर्षिस्सर्गादौ ज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति। औषधिसिद्धिर्वनस्थौषधीन् गृहीत्वा तै रोगापनयनसामर्थ्यम्। रसायनादिनिर्माणसामर्थ्यं वा। तपस्सिद्धिः प्राचेतसविश्वामित्रप्रभृतीनां महर्षीणाम्। मन्त्रसिद्धिः मन्त्रप्रभावादाकाशादि-गमनम्। समाधिजाश्च सिद्धयः प्राक्प्रतिपादिताः। यो ह्यस्मिञ्जन्मनि पात्यन्तरपरिणामस्स प्रकृतीनामापूराद् भवतीत्यर्थं स्पष्टयति– पूरणादिति। पाश्चात्त्यजन्मप्रकृतयोऽस्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्तीति भावः। प्रकृतयश्च कायेन्द्रियपरिणामहेतवो गुणविशेषाः॥१॥

ननु धर्माधर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणाः प्रकृतं यो विकारानापूर्य जात्यन्तरेण परिणमन्त इत्यत आह– क्षेत्रिकवदिति।

क्षेत्रिकवत्ततो भेदः प्रकृत्यावरणस्य तु।
जायते नहि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकम्॥२॥

यथा कृषीवलः केदारात् केदारान्तरे जलं पिप्लावयिषुर्जलगति-प्रतिबन्धकावरणभेदमात्रं करोति तद्वत्। ततोऽनुष्ठीयमानधर्मादेः। प्रकृतीनामपूर्वेण कायेन्द्रियरूपेण परिणामोन्मुखानां गुणविशेषाणाम्। आवरणमावरकमधर्मादिः तस्यैव विरोधित्वाद् भेदः क्षयो जायते। न हि धर्मादिः तासां प्रकृतीनां परिणामे प्रयोजकन्निमित्तम्भवति। यथा कृषीवलभिन्नावरणानि सलिलानि स्वयमेव केदारात् केदारान्तरमागत्यापूरयन्ति केदारं, तद्वद्धर्मादिनिमित्त-प्रतिहतावरकाः प्रकृतयस्स्वयंविकारानापूरयन्ति न तु विकारजनने धर्मादि-

निमित्तमपेक्षन्ते न हि कार्येण कारणं विकारजनने प्रवर्त्यते कारणस्यावरणभेदमात्रं तु कार्येणापि कर्त्तुं शक्यत इत्यावरणभेदमात्रं धर्मादिनिमित्ताद् भवतीतिभावः॥२॥

ननु योगाङ्गानुष्ठानोत्पन्नानेककायनिर्माणशक्तिर्योगी यदानेकशरीराणि युगपत् सृजति तदा किमेकमनस्कानि तानि सृजति वाऽनेकमनस्कानीत्यत आह– निर्मिमीत इति।

निर्मिमीतेऽन्यचित्तानि सोऽस्मितामात्रचित्ततः।
वृत्तिभेदे त्वनेकेषां चित्तमेकं प्रयोजकम्॥३॥

योगी स्वनिर्मितेषु कायेषु यानि-अन्यानि भिन्नानि चित्तानि तानि अस्मितामात्रचित्ततः। अस्मितामात्रचित्तं मूलकारणमुपादाय निर्मिमीते सृजति–अनेकेषां भिन्नानां निर्माणचित्तानां वृत्तीनां प्रवृत्तीनां व्यापाराणां भेदे नानात्वे तु–एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकमधिष्ठातृत्वेन प्रेरकम्भवति। प्रेरकचित्तभिन्नत्वे तु स्वनिर्मितकायेषु निर्माणचित्तगतवृत्तिभेदं न जानीयादित्यग्ने-र्विस्फुल्लिङ्गा इव योगिचित्तान्निर्माणचित्तानि निस्सरन्तीति भावः॥३॥

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजभेदात्पञ्चविधं निर्माणचित्तं तत्र चतुर्भ्य-स्समाधिजचित्तस्य वैलक्षण्यमाह– तत्रेति।

तत्र ध्यानसमुत्पन्नमनाशयं मनो मतम्।
परेषां त्रिविधं कर्माशुक्लाकृष्णं तु योगिनः॥४॥

तत्र जन्मजादिपञ्चचित्तेषु ध्यानसमुत्पन्नं समाधिजं यन्मनश्चित्तं तदनाशयं वासनाशून्यं मतमभिमतं स्वीकृतमित्यर्थः। ननु परेषामिव योगिनोऽपि कर्माशयबलात् सुखदुःखाभिसम्बन्धास्स्यादित्यत आह– परेषामिति। परेषामितरेषामयोगिनां कर्मत्रिविधं त्रिप्रकारं शुक्लं कृष्णां शुक्लकृष्णञ्चेति योगिनस्तु अशुक्लाकृष्णं कर्म तत्र शुभफलदं कर्म स्वाध्यायादिशुक्लम्। अशुभफलं कर्म ब्रह्महत्यादिकृष्णम्। दुःखोपसर्जनसुखफलकं यागादिकर्म-शुक्लकृष्णम्। संलेलिह्यन्ते हि स्वर्गमधुमधुररसावलेहिनो यागाद्यनुष्ठायिनः कुशलास्तदङ्गहिंसादिजनितपापमात्रोपपादितां दुःखकट्वौषधिकटुताम्। योगिनस्त्वशुक्लाकृष्णां कर्म यस्मात् क्रियमाणमपि तत् फलत्यागानुसन्धानेना-नुष्ठितत्वान्न किञ्चित्फलमारभते। नेतरेषामिव क्षीणक्लेशस्य योगिनः

कर्माशयबलात् सुखदुःखाभिसम्बन्ध इत्याशयः॥४॥

विपाकानुगुणवासनाजनकत्रिविधकर्मासम्बद्धत्वेन योगिनो जन्मान्तराभावात् त्रिविधकर्मसम्बद्धानामितरेषां त्रिविधकर्मजन्या विपाकानुरूपा देशकालाद्यच्छिन्नाः शुक्लाः कृष्णाः शुक्लकृष्णाश्च वासना अभिव्यक्ता भवन्तीत्याह– त्रिविधादिति।

त्रिविधात्तद्विपाकानुगुणानामेव जायते।
वासनानामभिव्यक्तिर्देशकालादिजातिभिः॥५॥

त्रिविधात्–त्रिप्रकारात्कर्मणः। तस्य कर्मणो यो विपाकः फलं देवमनुष्यतिर्य्यग्जात्यादि तस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासां देशकाल–कुलजातिभिरभिव्यक्तिर्भवतीत्यर्थः। भावस्त्वयं येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवतिर्यङ्मनुष्यादि तत्तच्छरीरानुसारेण तास्ता वासनाः प्रादुर्भवन्ति तत्तज्जाति–देशकालादीनवलम्बमानाः॥५॥

ननु जातिदेशकालव्यवहितानां वासनानां स्वविपाकानुरूपस्मृत्याद्युत्पादने आनन्तर्यन्न सम्भवति देशादेर्व्यवधायकत्वादिति तासां निष्फलत्वं सम्प्राप्तमित्यत आह– पाश्चात्त्यमिति।

पाश्चात्त्यं विप्रकृष्टानां स्मृतिवासनयोरपि।
ऐक्यरूप्यादनादित्वं तासां नित्यतयाऽऽशिषः॥६॥

पाश्चात्त्यम्–आनन्तर्यम्। विप्रकृष्टानां देशकालजातिव्यवहितानामपि वासनानाम्। तत्र हेतुमाह– स्मृतीति। स्मरणसंस्कारयोस्समानविषयत्वादिति हेतुः। स्मृतिहेतुवासनानामनादित्वं निर्दिशति– अनादित्वमिति। आशिषः– मम शरीरेन्द्रियादिभिर्वियोगो मा भूत् सुखसाधनं मे सदा भूयादित्येवं रूपस्य सङ्कल्पस्य नित्यतया नित्यत्वेन तत्कार्याणां तासां स्मृतिहेतु वासना–नामनादित्वम्॥६॥

वासनानां हानोपायमाह– हेत्त्विति।

हेतुफलाश्रयालम्बसङ्गृहीतास्तु वासनाः।
प्रवर्त्तन्तेऽप्ययेऽमीषामपीतिस्सन्निरूपिता॥७॥

त्रिविधकर्मजन्यानां वासनानां हेतुस्त्रिविधं कर्म। फलम्–जात्यादि

कम्। यज्जात्यादिकं जनयन्ति तदेव तासां फलम्। आश्रयः—साधिकारं चित्तम्। यद्यद्वस्तुं यां यां वासनां व्यनक्ति तत्तदेव तस्यास्तस्या आलम्बः। एभिर्हेत्वादिचतुर्भिर्गृहीताः कर्मजन्या वासनाः प्रवर्त्तन्ते। संस्काररूपाणां वासनानान्तु हेतुरनुभवस्तस्य च रागादयस्तेषामविद्येतिपारम्पर्येण साक्षाद्वा हेतुरविद्या। फलं स्मृतिः। आश्रयो वासनानां बुद्धितत्त्वम्। य एवानुभवस्य विषयस्स एव वासनानामालम्बः। एभिर्हेत्वादिचतुर्भिश्च सङ्गृहीताः संस्काररूपा वासनाः प्रवर्त्तन्ते—अमीषां हेत्वादिचतुर्णामप्यये विनाशे सत्त्यासां वासनानामपीतिर्विनाश-स्सन्निरूपितः कथितः॥७॥

ननु सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्कथं वासनानामपीतिरुच्यत इत्यत आह— अस्तीति।

अस्ति स्वरूपतोऽतीतं भविष्यच्चाध्वभेदतः।
धर्माणां ते गुणात्मानो व्यक्तास्सूक्ष्माश्च भेदतः॥८॥

धर्मैर्विपरिणममानश्चित्तरूपो धर्म्याऽऽपवर्गमेकरूपो धर्मास्त्वनेके भवन्त्याविर्भवन्तस्तिरोभवन्तश्च तस्माद्धर्माणामतीतानागतभेदतस्सद्रूपेणा-वस्थानान्नासत्त्वं वासनानामतीतभावेनावस्थानाच्च न फलजनकत्वमपीति भावः। अक्षरार्थस्तु धर्माणां वासनादीनाम्। अध्वभेदतः—अतीतानागतावस्थाभेदात्। अतीतं कृतव्यापारं भविष्यच्च करिष्यमाणव्यापारं स्वरूपतस्सद्रूपेण अस्ति विद्यते। तेऽध्वानो गुणात्मानो गुणविशेषात्मकाः। व्यक्ता वर्त्तमानधर्मतामापन्नाः सूक्ष्माश्चातीतानागतभावमापन्नाः; भेदतः व्यक्तत्वाव्यक्तत्वधर्माभ्यां भिन्न-त्वात्॥८॥

धर्मैकत्वमाह— एकत्वादिति।

एकत्वात्परिणामस्य वस्तुतत्त्वमितिस्थितम्।
साम्येऽपि वस्तुनश्चित्तभेदाद्विभक्तृता तयोः॥९॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलानामनेकत्वेऽप्यङ्गिरूपचित्तपरिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वं चित्ततत्त्वमेकमितिस्थितम्। अयम्भावः यद्यपि गुणास्त्रयस्तथापि तेष्वेकस्याङ्गि-भावेनावस्थानाच्चित्ततत्त्वमेकमेव, तथाहि यदा सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं लभते तदा रजस्तमसी अङ्गे सत्त्वात्मकं चित्ततत्त्वमङ्गयेकम्।

एवं रजःसत्त्वतमसी अभिभूय यदा घोरामात्मनो वृत्तिं लभते, तदा सत्त्वतमसी अङ्गे रज आत्मकञ्चित्ततत्त्वमङ्गयेकम्। एवं तमस्सत्त्वरजसी अभिभूय यदा मूढामात्मनो वृत्तिं लभते, तदा सत्वरजसी अङ्गे तम आत्मकञ्चित्ततत्त्व-मङ्गयेकमित्येकञ्चित्तं धर्मि। ननु ज्ञानविषययोरेकत्वेन कथमेतदित्याह– साम्येऽपीति। वस्तुनो विषयस्य साम्येऽपि एकत्वेऽपि; चित्तानां भेदान्नानात्वात्। तयोर्ज्ञानविषययोर्विभक्तृता भेद इतरथा विषयाणां ज्ञानस्वरूपत्वे पुरुष-विविधज्ञानभास्यत्वं पुरुषान्तरेण गृहीतस्य पुरुषान्तरग्राह्यत्वं चैकस्य विषय-स्यानुपपन्नं स्यादेकज्ञाननाशेन नष्टत्वात् परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वाच्चेति ज्ञानबाह्यो विषयः॥९॥

ज्ञानातिरेके हेत्वन्तरमाह– न चेति।

न चैकचित्ततन्त्रं हि वस्तु तदप्रामाणिकम्।
परिणामि भवेच्चित्तं ज्ञाताज्ञातस्वरूपतः॥१०॥

वस्तु विषयो नैकचित्ततन्त्रं भवितुमर्हति एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा तदप्रामाणिकं स्याच्चित्ताभावेऽपि वस्तुप्रत्यभिज्ञानस्याबाधितस्य सत्त्वेनेति नानुभूयमानवस्तुबाधसम्भवः। ननु चित्तं युगपत्सर्ववस्तुस्वरूपावगाहित्वेना-परिणामि भवेदित्यत आह– परिणामीति। विषयस्य ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वं चित्तस्य परिणामितामवगमयतीत्यतश्चित्तं न युगपत्सर्वार्थमवगाहते वस्तूपरागा-पेक्षित्वाच्च चित्तस्येति चित्तोपरक्तं वस्तुज्ञातम्भवति न सर्वम्॥१०॥

ननु पुरुषोऽपि चित्तवत्परिणामी स्यादित्यत आह– चेतस इति।

चेतसो वृत्तयो ज्ञाताः प्रभोरपरिणामिताम्।
बोधयन्ति स्वयंभास्त्वं दृश्यत्त्वात्तस्य नेष्यते॥११॥

चेतसश्चित्तस्य वृत्तयः प्रत्ययाः ज्ञातास्सर्वदा गृहीताः प्रभोः पुरुषस्या-परिणामितां चिद्रूपतां बोधयन्ति ग्राहयन्ति यदि चित्तवत्पुरुषः परिणामी भवेत्तदा शब्दादिविषयवच्चित्तवृत्तयोऽपि ज्ञाताज्ञाता भवेयुर्न हि शब्दादि-विषयवच्चित्तवृत्तयो ज्ञाताज्ञाता भवन्तीति न तत्प्रभुः पुरुषस्तद्वत्परिणाम्यत एव स स्वयंप्रकाशोऽपि तस्य चित्तस्य तु दृश्यत्वात्परिणामित्वात् स्वयंभास्त्वं स्वयंप्रकाशत्वं नेष्यते॥११॥

चित्तस्यास्वप्रकाशत्वे हेत्वन्तरमाह– एकदेति।

एकदा चोभयाऽज्ञानाच्चित्तान्तरप्रकाशने।
बुद्धेरतिप्रसङ्गस्स्यात्स्मृतिसाङ्कर्य्यमेव च॥१२॥

एकदा एकस्मिन् क्षणे। उभयस्य स्वस्य परस्य चाज्ञानादनवधारणाच्चित्तमस्वप्रकाशमित्यर्थः। यद्वा एकदा एकस्मिन् क्षणे उभयस्य ज्ञानद्वयस्यानुभवसिद्धस्यापलापासम्भवान्नाणुचित्तमित्यर्थः। यदि चित्तमणुस्यात्तदैकस्मिन् क्षणं उभयावधारणं न स्यात् भवत्येकस्मिन्नपि क्षणे उभयावधारणमिति नाणुचित्तम्। ननु चित्तस्य चित्तान्तरेण ग्रहो भविष्यतीत्यत आह– चित्तान्तरेति। बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरवेदने तस्या अपि बुद्धित्वाद् बुद्ध्यन्तरं संवेदकं तस्यापि बुद्ध्यन्तरमित्यनवस्थात्मकातिप्रसङ्गो दुरुद्धरतामापद्येत बुद्ध्योः परस्परं भासकत्वेऽन्योन्याश्रयः स्वयं प्रकाशत्वं तु परिणामित्वादेवानुपन्नम्। बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरप्रकाशने च स्मृतिसङ्करः प्राप्नोति यावत्यो बुद्धयस्तावत्यस्तत्संस्कारेभ्यः स्मृतयो वाच्यास्तथा च स्मृतीनामानन्त्येन किं विषयिणीयं स्मृतिरिति न ज्ञायेत॥१२॥

ननु सिद्धान्ते कथं बुद्धेस्संवेदनं सम्भवतीत्यत आह– तदाकारेति।

तदाकारसमापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनं चितेः।
सर्वार्थं द्रष्टृदृश्याभ्यां रक्तं चित्तमिहोच्यते॥१३॥

चितेः पुरुषस्य सन्निधौ बुद्धेस्तदाकारसमापत्तौ स्वबुद्धेः स्वस्य बुध्यात्मनो वेदनं प्रकाशो भवतीत्यर्थः। चिच्छक्तिर्बुद्धिविशिष्टतां यदा सम्पद्यते, तदा बुद्धिस्स्वात्मानमवभासयति न केवलेति नास्मन्मते बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरप्रकाशनं स्वयं प्रकाशत्वं च, स्यात्तदास्मन्मते बुद्धेः स्वयंप्रकाशत्वं बुद्ध्यन्तरसंवेदनं चापलपामश्चेद्द्रष्टारं स्वयंप्रकाशमितिद्रष्टारमपलपन्तो भवन्त एव निरुक्तदोषैर्दुष्टाः। पुरुषाकारतामिव प्राप्तं चित्तं यदा विषयाकारेण परिणमते तदा तस्य सर्वग्रहणसामर्थ्यं जायत इत्याह– सर्वार्थमिति। चित्तं ज्ञेयेन विषयेण स्वपरिणामिवृत्त्यारूढत्वसम्बन्धेन सम्बद्धं स्वयमपि विषत्वाद्द्रष्टारं पुरुषमनुगृह्णाति यदाऽऽत्मीयवृत्त्या तदा सर्वार्थमुच्यते॥१३॥

द्रष्टरि प्रमाणमाह– चित्तमिति।

चित्तं संहत्यकारित्वात्परार्थं वासनान्वितम्।
कोऽहमासं कथं त्वासं किंस्विदिदं कथं त्विदम्॥१४॥

इतः परं भविष्यामः के कथं किन्त्विदं कथम्।
भविष्यतीति भावास्ते निवर्त्तन्ते विवेकिनः॥१५॥

वासनाभिर्विचित्राभिरन्वितं चित्रीकृतं चित्तं परार्थं पुरुषार्थं भवितुमर्हति संहत्यकारित्वात्संघातपदार्थत्वादित्यर्थः। यथा शयनासनाभ्यङ्गगृहादयः संघातपदार्थाः परार्था दृष्टास्तथा चित्तेनापि संहत्यकारिणा भवितव्यं तस्य सङ्घातान्तरार्थत्वे तु तस्यापि सङ्घातान्तरार्थतयाऽनवस्थाप्रसज्येतेति परार्थतया चित्तस्य परपदार्थपुरुषसिद्धिः। एवं द्रष्टृदृश्ययोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यत्यहमस्मादन्य इति तस्य विवेकिनो ज्ञातचित्तस्वरूपस्य चित्ते या आत्मत्वभावनास्ता निवर्त्तन्त इति सार्द्धश्लोकषट्केन कैवल्यं निर्णेतुं भावनास्वरूपदर्शनपूर्वकं तासां निवृत्तिमाह– कोऽहमिति॥१४॥१५॥

ननु भावनानिवृत्तेः किम्भवतीत्यत आह– चित्तमिति।

चित्तं कैवल्य प्राग्भारं निम्नं विवेकजात्तदा।
य एतदीयछिद्रेषु प्रत्यया वासनोदिताः॥१६॥

यदस्य विवेकिनश्चित्तं बहिर्मुखं विषयसक्तमासीत्तद्विवेकजाज्ज्ञानान्निम्नं बहिर्मुखतां परित्यज्यान्तर्मुखं सत्तदाऽऽत्मभावभावनानिवृतौ सत्त्यां कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलं कैवल्यारम्भं वा भवति। विवेकवाहिनश्चित्तस्यान्तरालेषु येऽन्तरायभूताः प्रत्यया भवन्ति तेषां हेतुमाह– य इति। येऽन्तरायभूताः प्रत्ययाः। एतदीयस्य विवेकस्थितस्य चित्तस्य छिद्रेषु अन्तरालेषु प्रत्ययाः ज्ञानानि प्रादुर्भवन्ति ते वासनाभिर्व्युत्थानानुभवजनितसंस्कारैरुदिता उत्पन्ना ज्ञेयाः। व्युत्थानानुभवजनितसंस्काराणां चिरन्तनत्वेन दाढ्यात् पुनः पुनरावृत्तिर्भवतीति भावः॥१६॥

विवेकप्रतिद्वन्द्विनस्ते प्रत्यया विवेकवाहिनि चित्ते यदा प्रादुर्भवेयुस्तदैषां प्रत्ययानां हानं क्लेशवत्कर्त्तव्यमित्याह–हानमिति।

हानमेषां तदा प्रोक्तं क्लेशवद्योगवित्तमैः।
प्रसङ्ख्यानेऽकुसीदस्य सर्वथा भेदख्यातितः॥१७॥

धर्ममेघस्समापत्तिस्ततः क्लेशनिवर्तनम्।
सर्वावरणमलैर्हीनं ज्ञानमल्पार्थकं तदा॥१८॥

यथाऽविद्यादिक्लेशानां पूर्वं हानमुक्तं तथा व्युत्थानानुभवजनित-संस्काराणामपि हा कर्त्तव्यं यथा ज्ञानाग्निदग्धबीजभावाः क्लेशा न पुनः प्ररोहन्ति तथा व्युत्थानानुभवजनितसंस्कारा अपीतिभावः। एवं प्रत्ययान्तरानुत्पादेन स्थिरीभूते चेतसि प्रसङ्ख्यानमुत्पद्यते तस्मिन् सति योगिनस्समाध्युत्कर्षोपायं सफलं सार्द्धैकश्लोकेनाह– प्रसङ्ख्यान इति। यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं यथाभावेन व्यवस्थितानां युगपत्परस्परविलक्षणस्वरूप भावनं प्रसख्यानं तस्मिन् सति अकुसीदस्य फलानाकाखिणो योगिनः प्रत्ययान्तरानुत्पादे सर्वथा सर्वप्रकारेण भेदख्यातितो विवेकज्ञानात्। धर्ममेघस्समापत्तिस्समाधिर्भवति। धर्ममशुक्लाकृष्णं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः, ततस्तस्माद्धर्ममेघात्। क्लेशानामविद्याद्यभिनिवेशान्तानां निवर्त्तनं निवृत्तिर्विनाशो निरोधो भवति छिन्ने क्लेशात्मके मूले कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः स्वयमेव च्छिन्ना न प्ररोहं लभन्ते निवृत्तेषु क्लेशकर्माशयेषु तदा तस्मिन्काले सर्वैः सकलैरा-वरणमलैरावरकदोषैः क्लेशकर्माशयैर्हीनं रहितं ज्ञानम्। अल्पार्थकं स्वल्पविषयं भवतीत्यर्थः। सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य शरद्गगनसदृशस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पं गणनास्पदम्भवतीतिभावः। धर्ममेघस्य फलान्तरमाह– गुणानामिति। अतः अस्माद्धर्ममेघात् ॥१७॥१८॥

गुणानां कृतकार्याणां परिणामक्रमोऽप्यतः।
नोत्सहते क्षणं स्थातुं निवृत्तो जारवत्तदा॥१९॥

गुणानां सत्त्वरजस्तमसां कृतं निष्पादितं भोगापवर्गलक्षणं कार्य्यं यैस्तेषां परिणामस्याऽऽपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येनाङ्गाङ्गिभावस्थितिकालस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्स निवृत्तः परिसमाप्तस्सन् क्षणमपि स्वल्पकालमपि तदा स्थातुं नोत्सहते। अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह– जारवदिति। यथा कश्चिज्जारः परस्त्रीलम्पटः कस्मिंश्चिदन्यस्य गेहे परस्त्रियमभिगम्य तत्र तदा स्थातुं नोत्सहते प्राणविनाशभयात्तद्वत्॥१९॥

उक्तक्रमस्य लक्षणमाह– क्रम इति।

क्रमोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः प्रतियोगीक्षणस्य तु।
गुणाप्ययः प्रतिष्ठा वा चितेः कैवल्यमीरितम्॥२०॥

॥इति योगमकरन्दे श्रीकुलयशस्विशास्त्रिप्रणीते चतुर्थः कैवल्यपादः॥

क्षणोऽल्पीयान् कालस्तस्य यः प्रतियोगी वर्त्तमानपरिणामसमनन्तर-जायमानः परिणामः। अपरेष्वनुभूतक्षणवर्त्तमानपरिणामेषु अन्तनिर्ग्राह्यः पश्चात्सङ्कलनबुद्ध्यान्तिमक्षणेऽनुभूयमानः यः परिणामस्स क्रम उच्यते। इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं रूपमाह– गुणाप्यय इति। गुणानां समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां योऽप्ययः प्रतिप्रसवः परिणामसमाप्तौ विकारानुत्पादः। चितेः चिच्छक्तेः पुरुषस्य प्रतिष्ठावृत्तिसारूप्यनिवृत्त्योप-चरितभोगनिवृत्तौ स्वरूपेणावस्थानं वा कैवल्यमपवर्ग ईरितमुदाहृतः। तथा च सर्वोपायैः सर्वैस्स्वरूपावाप्तये यत्नो विधेयो येन न घोरेषु संसाराङ्गारेषु परिपाको भवेदिति पूर्वेषां महर्षीणामाशयः।

संगृह्य सूत्रनिचयं प्रथमं महर्षे
र्मूलामृतं व्यरचयं जनतृप्तिहेतोः।
आलोड्यभाष्यममला रचिता मयैषा
योगामृतं च मनसां मुदमादधातु॥१॥

यस्साङ्ख्येषु कृतश्रमो मुहुरहो योगेषु योगीश्वरो।
वेदान्तेषु विदां वरोऽतिनिपुणो जातो यशस्वी कुले।
तेनेयं जनचित्तरञ्जनकरी जाड्यञ्जरी मञ्जरी
शुभ्रा शोकझरी प्रियेव विहिता पश्यन्तु धीरा॥

॥इति श्रीयोगमकरन्दव्याख्यानस्वरूपायां साङ्ख्ययोगवेदान्तो-पाध्यायसारस्वतवंशोदधिपूर्णचन्द्रश्रीगिरिधार्य्यात्मजदर्शनाध्यापक श्रीराममिश्रशास्त्रिशिष्यश्रीकुलयशस्विशास्त्रिप्रणीतायां योगमञ्जर्य्यां चतुर्थः कैवल्यपादः॥

"समाप्तश्चायं ग्रन्थः"
॥नमः परमात्मने॥
ॐ

परिशिष्टम्

तत्र समाध्याख्यः प्रथमः पादः

यस्य भासा जगत्सर्वं भाति स्थावरजङ्गमम्।
भ्रान्तिमात्रैकदेहन्तं विश्वनाथमहं भजे॥1॥

क्लेशकर्ममुखबन्धनैर्दूरतः परिपालयते सदा।
यत्र चेतसि सकृत्समागते तं परं पुरुषमाश्रयामहे॥2॥

=जिसके प्रकाश से यह सारा भ्रान्तिमात्र स्वरूप वाला स्थावर-जंगम जगत् प्रकाशित हो रहा है; उन विश्वनाथ का मैं भजन करता हूँ। चित्त में जिसका थोड़ा भी साक्षात्कार हो जाने पर क्लेश-कर्म-आदि बन्धनों से साधक की सदा-सर्वदा के लिए रक्षा हो जाती है, उन परम पुरुष का हम आश्रय ग्रहण करते हैं।

निरोधश्चित्तवृत्तीनां य योगो द्विविधो मतः।
निर्बीजः प्रथमश्चैकसबीजः स्याच्चतुर्विधः॥3॥

स्वरूपावस्थितिर्द्रष्टुर्निरोधेऽपरिणामिनः।
व्युत्थाने वृत्तयो यद्वद् आत्मा तद्विदिहेष्यते॥4॥

=चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही 'योग' (समाधि) है; जो कि दो प्रकार का होता है : 'सबीज' (सम्प्रज्ञात-समाधि) एवं 'निर्बीज' (असम्प्रज्ञात-समाधि)। जब तक प्राणी की चित्तवृत्तियाँ सक्रिय रहतीं हैं, तब तक वह वृत्ति के अनुरूप अपने स्वरूप की कल्पना करके भ्रमित (दुःखी) रहता है। किन्तु चित्तनिरोध होने पर वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। (यो.सू.1.2-4)

निद्रास्मृतिविपर्यासाः प्रमाणं सविकल्पकम्।
वृत्तयः पञ्चतय्यः स्युः क्लिष्टाक्लिष्टात्मिकाश्च ताः॥5॥

प्रत्यक्षादिप्रभेदेन प्रमाणं त्रिविधं मतम्।
विपर्ययात्मकं ज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्॥6॥

वस्तुशून्यो विकल्पः स्याज्जनकः शब्दज्ञानयोः।
अभावप्रत्ययालम्बा वृत्तिर्निद्रेति कीर्त्यते॥7॥

=वृत्तियों के पाँच प्रकार कहे गए हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। किसी पदार्थ के सम्यक् अनुभव को 'प्रमाण' कहते हैं। योगदर्शन ने सांख्याभिमत तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है : (1) प्रत्यक्ष (मन-बुद्धि-इन्द्रियमूलक अनुभव), (2) अनुमान (प्रत्यक्षाश्रित-युक्तिमूलक अनुभव) एवं (3) आगम (आप्तवचन; पूर्वोक्त दोनों से विलक्षण)। वहीं; किसी पदार्थ का भ्रमज्ञान 'विपर्यय' कहलाता है। उस पदार्थ-विषयक अज्ञान ही इसका प्रयोजक होता है। उदाहरण : अन्धकारवश किसी रस्सी को सर्प समझ लेना। त्रिकाल में अविद्यमान वस्तु की शाब्दिक कल्पना को 'विकल्प' कहते हैं। उदाहरण : किसी वन्ध्या स्त्री को पुत्र नहीं हो सकता, अतः 'वन्ध्यापुत्र' शब्द अर्थदृष्टि से निष्फल है। किन्तु इस शब्द की कल्पना ही विकल्प है। अनुभवशून्यता-विषयक चित्तवृत्ति को 'निद्रा' कहते हैं, जबकि पूर्वानुभूत विषयों के चित्तगत संस्कारों के पुनःस्फूर्ति की प्रयोजक वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं। यदि उक्त वृत्तियाँ साधक को आत्मोन्मुख करतीं हुईं उसकी समाधि में सहायक बनें, तो इन्हें 'अक्लिष्ट' वृत्ति कहा जाता है। जबकि साधक को बहिर्मुख–अनात्मनिष्ठ बनाकर उसको संसारभाव में फंसाने वाली वृत्ति को 'क्लिष्ट' वृत्ति कहते हैं। यदि विस्तरशः कहें, तो जो युक्त निद्रा योग में सहायक है, वह अक्लिष्ट निद्रा कही जाएगी; जबकि योग में बाधा डालने एवं प्रमाद में धकेलने वाली निद्रा को हम क्लिष्ट निद्रा कहेंगे। ठीक ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिए। (यो.सू.1.5-11)

स्मृतिवृत्तिरसम्मोषोऽनुभूतविषयस्य च।
रोधोऽभ्यासविरक्तिभ्यामेतासां योगिसम्मतः॥8॥

अवृत्तिकस्य चित्तस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः।
तदर्थकः प्रयत्नो योऽभ्यसनं तत्प्रकीर्तितम्॥9॥

तत्पुनर्दीर्घकालेन सत्कारासेवितं मुहुः।
दृढभूमिर्विरक्तिस्तु विषयेषु वितृष्णता॥10॥

तस्या सञ्ज्ञाश्चतस्त्रः स्युर्यतमानादिभेदतः।
सा परा पुरुषख्यातेर्गुणेभ्यो या वितृष्णता॥11॥

=चित्तवृत्तियों को आत्मोन्मुखी बनाने के उपाय हैं : अभ्यास और वैराग्य। चित्तस्थिरता हेतु श्रद्धापूर्वक किए गए सतत–दीर्घकालिक प्रयत्न को 'अभ्यास' कहते हैं। जबकि सभी (दृष्ट–लौकिक, आनुश्रविक–अलौकिक) अनात्म-विषयों की इच्छा का त्याग 'वैराग्य' कहलाता है। भ्यासमूलक प्रारम्भिक वैराग्यदशा को 'वशीकार' तथा आत्मानुभवमूलक सुदृढ़ वैराग्यदशा को 'परवैराग्य' कहते हैं। पीछे सभी चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने को योग कहा है; जो कि 'असम्प्रज्ञात समाधि' भी कहलाता है। इस दशा में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी लीन हो जाती है। किन्तु उससे पूर्व योगी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' प्राप्त होती है; जो कि त्रिपुटीसहित होती है। इस दशा में वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता–इन चारों से ध्येय का सम्बन्ध (चित्तवृत्ति की तादात्म्य) रहता है। योगाभ्यास द्वारा साधक क्रमशः उक्त चारों स्तरों को पार करता है। (यो.सू.1.12-17)

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वोऽन्यः शिष्टवासनः।
विदेहाव्यक्तलीनानां समाधिर्भवकारणः॥12॥

इतरेषां समाधिः स्याच्छ्रद्धाद्योपायपूर्वकः।
आसन्नस्तीव्रवेगानां समाधिस्तत्फलं तथा॥13॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वाद्विशेषाः स्युस्ततोऽपि च।
ईश्वरप्रणिधानाद्वाऽऽसन्ने समाधितत्फले॥14॥

=परवैराग्य के प्रभाव से साधक स्वतः संसार के प्रति उदासीन रहता है। इसी उदासीनता को 'विरामप्रत्यय' कहा गया है। जब योगाभ्यास से साधक उक्त स्थिति को भी पार करके वृत्तिशून्य हो जाता है, तब उसकी स्वरूपावस्थिति होती है; जिसको योगदर्शन में 'असम्प्रज्ञात-समाधि' अथवा 'कैवल्य' कहते हैं। 'विदेह' (देहात्मबुद्धिरहित) और 'प्रकृतिलय'

(प्रकृति में भी आत्मदर्शन करने वाले) साधकों की असम्प्रज्ञात-समाधि को 'भवप्रत्यय' कहा गया है। वस्तुतः इस दशा में योगी को सम्पूर्ण भव (संसारप्रपंच) में भी अपनी आत्मरूपता का साक्षात्कार होता है। चाहे विदेह हो या प्रकृतिलय–दोनों प्रकार के साधक यदि किसी कारण से पुनर्जन्म लेते हैं, तो उन्हें जन्मना असम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि होती है। जबकि उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त साधकों को अपनी-अपनी तन्मयता एवं तत्परता के अनुरूप क्रमशः श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा अथवा केवल ईश्वरप्रणिधान (भगवच्छरणागति) के द्वारा असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है। (यो.सू.1.18-23)

अपरामृष्टमेवाहुर्विपाकैः क्लेशकर्मभिः।
ईश्वरं पुरुषं प्राज्ञा वासनाभिस्तथैव च॥15॥

अतीतानागतज्ञानं वर्द्धमानं क्रमादपि।
स्यान्निरतिशयं यत्र स सर्वज्ञ उदाहृतः॥16॥

स कालेनानवच्छेदात्पूर्वेषां तु गुरुर्मतः।
वाचकः प्रणवस्तस्य तदर्थभावनं जपः॥17॥

अभावश्चान्तरायाणां स्वरूपाधिगमोऽप्यतः।

=क्लेश (अविद्या-आदि पाँच), कर्म (पाप-पुण्य-आदि), विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्मसंस्कार-समुदाय) से त्रिकाल में असम्बद्ध पुरुष-विशेष को ही 'ईश्वर' कहते है। त्रिकाल में क्लेश-कर्म-आदि से मुक्त होने से वह मुक्तपुरुषों से विलक्षण सिद्ध होता है। उसमें ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा वही ब्रह्मा-आदि पूर्वजों का भी गुरु (पूर्वज) है। ईश्वर ही 'ॐ' (प्रणव) का वाच्य है। अतः ईश्वरप्रणिधान के इच्छुक साधक को प्रणव का अर्थानुसन्धानपूर्वक जप करना चाहिए; ताकि उसकी योगसाधना में अन्तरायों (विघ्नों) का नाश हो और उसको आत्मानुभूति भी हो। (यो.सू.1.24-29)

व्याधिस्त्यानप्रमादाश्च संशयो भ्रान्तिदर्शनम्॥18॥

आलस्याविरतौ चैवं भूम्यलाभानवस्थितौ।

नवैते चित्तविक्षेपा योगिनां योगबाधकाः।।19।।

प्रश्वासश्वासदुःखानि दौर्मनस्याङ्गवेपथू।
भवन्ति क्षिप्तचित्तस्य विक्षेपसोद्भवास्त्विमे।।20।।

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनम्।
चित्तमेवाभ्यसेद्योगी सौहार्द्यादींश्च भावयेत्।।21।।

सौहार्दीं सुखयुक्तेषु करुणां दुःखितेष्वपि।
मुदितां पुण्यशीलेषूपेक्षामपुण्यकर्मसु।।22।।

एवं भावयतस्तस्य धर्मः शुक्लाऽभिजायते।
प्रसादश्च ततश्चित्तमेकाग्रमवतिष्ठते।।23।।

साधयेत्प्राणवायोर्वा प्रच्छर्दनविधारणे।
स्याद्विषयवती जाता प्रवृत्तिः स्थितिकारणम्।।24।।

ज्योतिष्मती विशोका वा चित्तं वा वीतरागगम्।
स्वप्ननिद्रावलम्बं वा ध्यायेद्वा तत्त्वमीप्सितम्।।25।।

=व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, अलब्धभूमिका और अनवस्थिति—ये नौ 'चित्तविक्षेप' तथा दुःख, दौर्मनस्य, देहकम्प, श्वास और प्रश्वास—ये चार 'विक्षेपसहभू'; इस प्रकार कुल तेरह विघ्न परिगणित हैं। ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त एकतत्त्व (अर्थात् चित्त को किसी एक ध्येय में स्थिर रखने) का अभ्यास करने से भी उक्त विघ्नों का प्रतिषेध होता है। चित्त को स्थिर करने के सात उपाय बतलाए गए हैं : (1) सुखीजनों से मैत्री, दुःखियों पर दया, पुण्यात्माओं पर प्रसन्नता तथा पापियों की उपेक्षा। (2) प्राणायाम। (3) विषयवती प्रवृत्ति (अर्थात् दिव्य अनुभवों से उत्साहित एवं प्रेरित व्यवहार)। (4) शोकरहित होना। (5) राग-द्वेष को छोड़ देना। (6) स्वप्न या गहन निद्रा में। (7) अपने अभीष्ट/रुचिकर विषय का ध्यान। (यो.सू.1.30-39)

परमाणुमहत्त्वान्तो वशीकारोऽस्य जायते।
अभिजातो मणिर्यद्वच्चित्तं तद्वदिहेष्यते।।26।।

क्षीणवृत्तिग्रहीत्रादि रूपभेदेन भासते।
सङ्कीर्णा यैव शब्दार्थज्ञानविकल्पकैः सह।।27।।

सवितर्का समापत्तिरर्थमात्रावभासिका।
परा स्वरूपशून्येव स्मरणपरिशोधने।।28।।

सविचारा सुसूक्ष्मार्था निर्विचारा तयैव च।
व्याख्याताऽलिङ्गपर्यन्ता सूक्ष्मविषयता मता।।29।।

ता एवाहुः सबीजं च समाधिं योगवित्तमाः।

=योग हेतु अपेक्षित चित्तस्थिरता आ जाने पर साधक को सभी (स्थूल या सूक्ष्म) विषयों में वशीकार (आरम्भिक वैराग्य) हो जाता है; जिसके प्रभाव से वह शुद्धमना साधक बाह्य विषयों से हटकर केवल ध्याता-ध्यान-ध्येय तक सीमित हो जाता है। इसी स्थिति को सम्प्रज्ञात अथवा सबीज समाधि कहते हैं। पीछे वर्णित चार घटकों के आधार पर सम्प्रज्ञात-समाधि के चार स्तर (भेद) होते हैं : (1) वितर्कानुगत/सवितर्क, (2) विचारानुगत/सविचार, (3) आनन्दानुगत/सानन्द तथा (4) अस्मितानुगत/सास्मित। उक्त स्तरों में चित्तवृत्ति की तादात्म्यापत्ति अपनी सञ्ज्ञा के विषय में ही होती है। अभिप्राय : 'वितर्कानुगत' समाधि में साधक शब्द-आदि विकल्पों से युक्त वितर्क (स्थूल विषय) में एकाग्र हो जाता है। 'विचारानुगत' में उसकी एकाग्रता पूर्वोक्त वितर्कों से हटकर विचारों (सूक्ष्म–मनोगत संस्कारों) में हो जाती है। 'आनन्दानुगत' में वह विचारशून्य होकर केवल आनन्द का अनुभव करता है। जबकि 'अस्मितानुगत' में उक्त आनन्द का अनुभव भी नहीं होता और साधक केवल अस्मिता (सन्मात्ररूपता) में स्थित होता है। (यो.सू.1.40-46)

निर्विचारसमापत्तेर्वैशद्यं जायते तदा।।30।।

तदाऽध्यात्मप्रसादः स्यात्प्रज्ञा तत्र ऋतम्भरा।
श्रुतानुमानबुद्धिभ्यामितरार्थावलम्बिनौ।।31।।

विशेषार्थतया तज्जः संस्कारोऽन्यप्रबन्धकः।
संस्कारस्यापि संरोधे निर्बीजः शास्त्रसम्मतः।।32।।

=उक्त स्थिति में पहुँच चुके साधक को अध्यात्मप्रसाद (आत्यन्तिक बुद्धिशुद्धि) की प्राप्ति होती है। तब उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा (अर्थात् यथार्थ–अप्राकृत–त्रिगुणातीत वस्तुतत्त्व की ग्राहक) हो जाती है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार साधक के चित्त में विद्यमान अन्य संस्कारों को प्रतिबन्धित करते हैं और धीरे-धीरे उसकी ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी का भी लय हो जाता है। त्रिपुटी का लय होते ही साधक असम्प्रज्ञात-समाधिरूप कैवल्य में पहुँच जाता है; जो कि योगदर्शन का लक्ष्य है। (यो.सू.1.47-51)

॥ अथ साधनाख्यो द्वितीयः पादः ॥

प्रणिधानतपोऽध्यायाः क्रियायोगः स सेवितः।
क्लेशेषु कुरुते सौक्ष्म्यं समाधिं भावयत्यपि॥1॥

=(1) 'तप' =वर्णाश्रमोचित शास्त्रोक्त कर्म, (2) 'स्वाध्याय' =सद्ग्रन्थों का अर्थबोधपूर्वक अध्ययन, तथा (3) 'ईश्वरप्रणिधान' =भगवच्छरणागति—इन तीनों के समाहार को 'क्रियायोग' शब्द से अभिहित किया गया है। उक्त तीनों के सम्यक् अनुष्ठान से अविद्या-आदि क्लेश क्षीण होते हैं, फलतः चित्तनिरोध में सौविध्य होता है। (यो.सू.2.1-2)

तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रो ह्यन्धसञ्ज्ञकः।
एते क्लेशास्तमः क्षेत्रमुत्तरेषां प्रकीर्तितम्॥2॥

एते चतुर्विधा ज्ञेयाः प्रसुप्तादिप्रभेदतः।
तमोऽनित्येषु नित्यत्वप्रत्ययः परिभाष्यते॥3॥

मोह एकात्मता शक्त्योर्महामोहः सुखे स्पृहा।
तामिस्त्रो दुःखहानेछोच्छेदत्रासोऽन्धसञ्ज्ञकः॥4॥

सूक्ष्मालयेन हेयास्ते ध्यानेन वृत्तयस्तथा।

=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशों के स्वरूप तथा इनके निवारण के दो उपायों का वर्णन हुआ है। अविद्या ही अन्य—चार क्लेशों का मूलकारण है। वे सभी यथावसर निम्नलिखित चार अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं : (1) प्रसुप्त : सूक्ष्म अथवा निष्क्रिय हो जाना। (2) तनु : योगाभ्यास द्वारा कुछ काल के लिए निरुद्ध/शान्त हो जाना। (3) विच्छिन्न : किसी एक क्लेश के सक्रिय रहने पर अन्य का निष्क्रिय रहना। (4) उदार : पूर्णतः सक्रिय हो जाना।

आत्मा नित्य (अविनाशी), पवित्र (अविकारी) तथा सुख स्वरूप है। किसी अनात्म-पदार्थ (अर्थात् अनित्य, अपवित्र एवं दुःखरूप) में

आत्मबुद्धि रखना ही 'अविद्या' है। अविद्या के कारण पुरुष (द्रष्टा) और अन्तःकरण (दर्शन-साधन) में सर्वथा एकात्मता (अभेदज्ञान) हो जाती है। इसी को 'अस्मिता' कहते हैं। सुखद प्रतीति करवाने वाले पदार्थ के प्रति अनुकूलता को 'राग' तथा दुःखद प्रतीति के प्रयोजक पदार्थ के प्रतिकूलता को 'द्वेष' कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में प्राप्त मरणभयरूपी स्वाभाविक क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं। साधक को चाहिए कि वह क्रियायोग अथवा ध्यान के द्वारा उक्त पाँचों क्लेशों को प्रतिक्षण निष्क्रिय करने हेतु तत्पर होवे। (यो.सू.2.3-11)

दृष्टादृष्टजनिज्ञेयः कर्माशयः सकारणः।।5।।
कर्माशयसमूलस्य विपाको भवति त्रिधा।
पुण्यापुण्यप्रसूतत्वत्सुखदुःखफलास्त्विमे।।6।।
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिभिः।
विरोधाद्वस्तुजातं च दुःखमेव विवेकिनः।।7।।

=जब तक उक्त पाँचों क्लेश रहेंगे, तब तक प्राणी के क्लेशमूलक कर्माशय का भी उदय होता रहेगा। उसी से प्राणी को (1) 'जाति' =पुनर्जन्म, (2) 'आयु' =भोगों को भोगने हेतु नियत कालावधि, और (3) 'भोग' =पापपुण्यरूप प्रारब्ध/कर्मफल (पुण्य के फल-सुख तथा पाप के फल-दुःख) भी प्राप्त होते रहेंगे। सभी भोगों में ये चारों कष्ट सतत बने रहते हैं : (1) 'परिणाम'=अनित्यता + अस्थिरता + अल्पफलता। (2) 'ताप'=पूर्वोक्त तीनों परिणामों का भय। (3) 'संस्कार'=विगत सुखों का वियोग। (4) 'गुणवृत्तिविरोध'=गुणों के स्वभावभेद से उनके कार्यों-भोगों में पारस्परिक विरोध। जैसे सुख सत्त्वगुण का कार्य है तथा अशान्ति तमोगुण का। किन्तु कई बार उक्त दोनों गुणों के स्वाभाविक विरोध के कारण भोक्ता पुरुष को सुखभोग के समय भी अशान्ति बनी रहती है। अतः चाहे सुख हो या दुःख, ज्ञानीलोग दोनों को ही दुःखरूप समझते हैं। (यो.सू.2.12-15)

हेयहाने तयोर्हेतुरितिव्यूहा यथाक्रमम्।
हेयमनागतं दुःखं संयोगो द्रष्टृदृश्ययोः।।8।।

हेयहेतुस्तथाहानं दुःखत्रयनिवर्तनम्।
हेतुरविप्लवा तस्य विवेकख्यातिरुच्यते॥9॥

दृश्यं भोगापवर्गार्थं स्थितिकर्मप्रकाशवत्।
भूतेन्द्रियात्मकं ज्ञेयमात्मा तस्य दृगर्थकः॥10॥

द्रष्टा च दृशिमात्रः स्याच्छुद्धोऽपि प्रत्ययानुगः।
दृश्यं नाशमपि प्राप्तं कृतार्थं पुरुषं प्रति॥11॥

=जो अब तक फलाभिमुख नहीं हुए, ऐसे दुःखों के आत्यन्तिक निवारण हेतु आत्मा-अनात्मा में प्राप्त अविद्यामूलक अभेदज्ञान (अभिनिवेश) का निवारण करना अत्यावश्यक है। आत्मा द्रष्टा (पुरुष) है, अनात्मा उसका दृश्य (प्रकृति) है तथा इन दोनों का पारस्परिक अभेदज्ञान ही दर्शन है। प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रजस्) और स्थिति (तमस्)—यही इस दृश्य (प्रकृति) के गुणस्वभाव हैं। पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार—ये सभी इस त्रिगुणात्मक दृश्य के स्वरूप हैं। गुणतारतम्य से इस त्रिगुणात्मक दृश्य की चार अवस्थाएँ हैं : (1) विशेष (सांख्योक्त सोलह विकार; दस इन्द्रियाँ + पंचमहाभूत), (2) अविशेष (पंचतन्मात्रा + अहंकार), (3) लिंगमात्र (महत्) तथा (4) अलिंग (मूलप्रकृति)। द्रष्टा की भोगापवर्गसिद्धि ही इस दृश्य का प्रयोजन है। जबकि द्रष्टा उक्त दृश्य से सर्वथा विलक्षण, वस्तुतः दृशिस्वरूप (दृक्शक्तिरूप, न कि द्रष्टा या दृश्य) एवं शुद्ध (निर्विकार) है। उसका द्रष्टृत्व स्वाभाविक नहीं है, अपितु बुद्धि (दर्शनसाधन) की उपाधि से द्रष्टा में द्रष्टृत्व आया है। (यो.सू.2.16-22)

तदनाश्यन्यवृत्तित्वात् संयोगो द्रष्टृदृश्ययोः।
रूपोपलब्धिहेतुः स्यादविद्या तस्य कारणम्॥12॥

यदा सञ्जायते ख्यातिर्नाशस्तस्या निरूपितः।
सप्तधा प्रान्तभूमौ धीर्योगिनस्तस्य भाषिता॥13॥

=जो पुरुष अपनी प्रकृति से विलक्षण सत्ता को जान लेता है, उसके लिए यह प्रकृति निष्क्रिय हो जाती है। तब वह पुरुष कैवल्य में

प्रतिष्ठित हो जाता है। उससे पूर्व पुरुष एवं प्रकृति में अविद्यामूलक संयोग (अभेदज्ञान) बना रहता है। अविद्या के निवृत्त होते ही तन्मूलक संयोग का अभाव हो जाता है; जिससे 'हान' (अर्थात् संयोगजनित पुनर्जन्म-आदि समस्त दु:खप्रपंच का आत्यन्तिक अभाव) हो जाता है। फिर पीछे शेष बचा दृशिस्वरूप चेतन आत्मा का कैवल्य सिद्ध होता है। हान का उपाय है–'विवेकख्याति' (अर्थात् प्रकृति और पुरुष के स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान; विवेक =प्रकृति-पुरुष का स्वरूपगत वैलक्षण्य, ख्याति =ज्ञान)। विवेकख्याति के बाद साधक को प्रज्ञा (बुद्धि) की क्रमश: निम्नलिखित सात अवस्थाएँ प्राप्त होतीं हैं : (1) 'ज्ञेयशून्यता' =सम्पूर्ण प्रपंच की अनित्यता का ज्ञान होने पर उसमें पुन: कुछ ज्ञेय (जानने-योग्य) न बचना। (2) 'हेयशून्यता' =द्रष्टा और दृश्य के अविद्यामूलक संयोग का हेय (अभाव) हो जाने पर अब कुछ हेय (अभाव होने-योग्य) न बचना। (3) 'प्राप्यप्राप्तता' =समाधिरूप परमलक्ष्य प्राप्त हो जाने के बाद अब कुछ प्राप्य (प्राप्त होने-योग्य) न बचना। (4) 'चिकीर्षाशून्यता' =अचल एवं निर्दोष विवेकख्याति हो जाने पर अब कुछ और जानने की इच्छा न बचना। (5) 'कृतार्थता' =सभी प्रयोजनों (भोग एवं अपवर्ग) की आत्यन्तिक सिद्धि। (6) 'गुणलीनता' =चित्त का अपने कारणरूपी गुणों में लीन हो जाना। (7) 'आत्मस्थिति' =पुरुष की अपने गुणातीत स्वरूप में आत्यन्तिक अवस्थिति। जिस साधक को उक्त सातों अवस्थाओं का अनुभव हो चुका है, वही मुक्त योगी है। (यो.सू.2.23-27)

योगाङ्गानामनुष्ठानाद्विलीने पञ्चपर्वणि।
ज्ञानप्रदीप्तिराख्यातेस्तत्प्रक्षयानुवर्तिनी॥14॥

प्राणायमनमाहारो यमो नियम आसनम्।
समाधिर्धारणा ध्यानमष्टावङ्गान्यमूनि च॥15॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमा जात्याद्यवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्॥16॥

नियमा: शौचसन्तोषतप:स्वाध्ययनार्पणा:।
वितर्कबाधने तेषां भावयेत्प्रतिपक्षिण:॥17॥

हिंसादयो वितर्काः स्युः कृतकारितमोदिताः।
मृदुमध्याधिमात्राश्च लोभक्रोधादिपूर्वकाः॥18॥

दुःखादिफलमेषां चेतिप्रतिपक्षभावनम्।
अहिंसायां प्रतिष्ठायां वैरत्यागोऽस्य सन्निधौ॥19॥

क्रियाणां फलमाप्नोति यदा सत्यं प्रतिष्ठिते।
रत्नान्यस्योपतिष्ठन्तेऽस्तेयप्रतिष्ठितिर्यदा॥20॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभोऽपरिग्रहे।
स्थैर्ये जन्मकथन्तायासम्बोधस्तस्य जायते॥21॥

स्वशरीरे घृणा शौचादसंसर्गः परैः सह।
सत्त्वशुद्धिस्तदुत्कर्षश्चैकाग्रेन्द्रियजेतृते॥22॥

आत्मदर्शनयोग्यत्वं सुखलाभो ह्यनुत्तमः।
सन्तोषाज्जायते कायेन्द्रियप्रसाधकं तपः॥23॥

भवेत्स्वाध्ययनादिष्टदेवतासम्प्रयोजनम्।

=अष्टांगयोग के अभ्यास द्वारा साधक की चित्तगत अशुद्धियों का शनैः-शनैः क्षय होता है; जिससे उसकी विवेकख्याति का मार्ग प्रशस्त होता है।योग के ये आठ अंग कहे गए हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें यम पाँच होते हैं : (1) 'अहिंसा' =मन-वाणी-कर्म से किसी प्राणी को प्रतिकूलता न देना। (2) 'सत्य' =अनुभूत विषय का यथार्थ प्रतिपादन। (3) 'अस्तेय' =चोरी (अर्थात् दूसरे के स्वत्व का हरण) न करना। (4) 'ब्रह्मचर्य' =मन-वाणी-कर्म से सर्वविध मैथुन का त्याग। (5) 'अपरिग्रह' =अपने स्वार्थ के लिए भोगसामग्री का संचय न करना।

उक्त पाँचों यमों का सार्वकालिक एवं सार्वभौम पालन 'महाव्रत' बन जाता है। इसी प्रकार; पाँच नियम भी हैं : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। इनमें (1) 'शौच' का अर्थ है : शास्त्रोचित विधि से बाह्य-अभ्यन्तर शुद्धिकरण। (2) 'सन्तोष' =प्रारब्धवश प्राप्त सुखभोगों से तृप्त रहते हुए अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना। जबकि

(3-5) तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का संकेत पीछे हो चुका है। उक्त यम-नियमों की विपरीत मनोभावनाएँ–जिन्हें 'वितर्क' कहते हैं और जो योगमार्ग के विघ्न हैं–तीन प्रकार की होतीं हैं : (1) 'कृतकारितानुमोदित' =स्वयं या किसी दूसरे के द्वारा कृत तथा अपने द्वारा अनुमोदित। (2) 'लोभक्रोधमोहपूर्वक'=लोभ, क्रोध या मोह के कारण आए हुए। (3) 'मृदुमध्याधिमात्रा'=न्यून, मध्यम या अधिक मात्रा में।

सभी वितर्क दु:ख एवं अज्ञानरूप फल को देने वाले होते हैं–ऐसा सोचना 'प्रतिपक्षभावना' कहलाता है। इसके प्रभाव से स्वयं ही वितर्कों के प्रति उदासीनता होने लगती है। अहिंसा से योगी के आसपास लोग वैर त्यागने लगते हैं। सत्य के प्रभाव से योगी में क्रियाफल का आश्रयत्व (अर्थात् शाप-वरदान-आदि देने का सामर्थ्य) आ जाता है। अस्तेय से उसके पास सभी ऐश्वर्य स्वत: आने लगते हैं तथा ब्रह्मचर्य के कारण उसके सामर्थ्य में वृद्धि होती है। अपरिग्रह से उसको पूर्वजन्मों की स्मृति प्राप्त होती है। शौच से उसको अनात्म-पदार्थों में आसक्ति का ह्रास, अन्त:शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्तैकाग्रता, इन्द्रियदमन एवं आत्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होने लगती है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। तप से अशुद्धिक्षय एवं देह-इन्द्रियों की सिद्धि होने लगती है। अभिप्राय : देहगत अशुद्धियाँ (मल-मूत्र-स्वेद-आदि में दुर्गन्ध) घटने लगती हैं, दूरश्रवण-दूरदर्शन-आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगतीं हैं। स्वाध्याय से इष्टदेवता का साक्षात्कार तथा ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि सम्भव है। (यो.सू.2.28-45)

योगसिद्धिर्गुरौ भक्ते: सुस्थिरं सुखमासनम्॥24॥

अनन्तस्य समापत्त्या कृत्त्या शिथिलया तथा।
ईरितमासनस्थैर्यं ततो द्वन्द्वैरधर्षणम्॥25॥

सति तस्मिंश्च विच्छेद: श्वासप्रश्वासयोर्गते:।
प्राणायाम: स वै बाह्याभ्यन्तस्तम्भवृत्तिक:॥26॥

दीर्घसूक्ष्म इतिख्यात: सङ्ख्यासमदेशत:।
चतुर्थो विषयाक्षेपी भासावारक्षतिस्तत:॥27॥

धारणासु च योग्यत्वं मनसश्चित्तरूपता।
प्रत्याहारो हृषीकाणां परमावश्यता ततः॥28॥

='आसन' का अर्थ है–सहजरूप से परमात्मा में मन लगाते हुए निश्चल होकर बैठना; न कि बलात्। आसन सिद्ध होने पर साधक में द्वन्द्वसहिष्णुता आ जाती है; जिससे 'प्राणायाम' (अर्थात् श्वास-प्रश्वास की दीर्घ या सूक्ष्म गति का देश-काल-संख्या द्वारा नियन्त्रण) सुलभ होता है। प्राणायाम के तीन भेद हैं : 'बाह्य' (रेचक; प्राणवायु को छोड़ना), 'अभ्यन्तर' (पूरक; प्राणवायु को शरीर में भरना) और 'स्तम्भन' (कुम्भक; प्राणवायु को शरीर में ही रोकना)। कभी-कभी चित्त के स्थिर हो जाने पर बाह्य-अभ्यन्तर का कुछ बोध ही नहीं रहता। तब प्राणवायु बिना काल-संख्या का विचार किए ही किसी देश-विशेष में स्थिर हो जाती है। इसको पूर्वोक्त तीनों से विलक्षण–चौथा प्राणायाम बताया गया है। प्राणायाम के दो फल होते हैं : पंचक्लेशरूपी आवरण का भंग तथा मन की धारणाशक्ति (चित्तस्थिरता) का विकास। इन्द्रियों का विषयों से उपरत होकर चित्त में विलीन होना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है। इससे इन्द्रियदमन की क्षमता प्राप्त होती है। (यो.सू.2.46-55)

।। अथ विभूत्याख्यस्तृतीयः पादः ।।

धारणा देशबन्धः स्याद्ध्यानं चित्तैकतानता।
समाधिरर्थनिर्भासा त्रयमेकत्र संयमः।।1।।

प्रज्ञालोको जयात्तास्य नियोगस्तस्य भूमिषु।

=शरीर के भीतर अथवा बाहर–किसी एक स्थान-विशेष (ध्येय) पर चित्त को स्थिर करने का नाम 'धारणा' है, जबकि उसी की प्रत्ययैकतानता (अखण्ड प्रवाह) का नाम 'ध्यान' है। ध्यान में ध्येय से भिन्न–सभी प्रतीतियों की सर्वथा शून्यता तथा चित्त की ध्येयाकार में परिणति को 'समाधि' कहते हैं। संयम में लगे साधक की बुद्धि का प्रकाश होने लगता है। (यो.सू.3.1-6)

अन्तरङ्गं त्रयं तेभ्यो बहिरङ्गं परत्र च।।2।।

निरोधः शान्तवाहीकः समाध्येकाग्रते तथा।
परिणामस्त्रिधा प्रोक्तश्चेतसोऽयं मनीषिभिः।।3।।

भूतेन्द्रियेषु तेनैव परिणामाः प्रकीर्तिताः।
धर्मीधर्मानुपातौ स्याद्धर्माः शान्तादयो मताः।।4।।

परिणामान्यताहेतुः क्रमभेदः प्रकीर्तितः।
अतीतानागतज्ञानं निरुक्तत्रयसंयमात्।।5।।

=यद्यपि उक्त तीनों पूर्वोक्त पाँच योगांगों की अपेक्षा अन्तरंग हैं। भले ही विजातीय (ध्येय से भिन्न) चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाएँ, किन्तु समाधि-सञ्ज्ञक योगांग–जो वस्तुतः सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है–असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरंग ही माना जाएगा। कारण कि असम्प्रज्ञात समाधि के तुल्य इसमें ध्येयाकार वाली चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता। सम्प्रज्ञात-समाधि में केवल व्युत्थानदशा (अर्थात् समाधि से इतर काल) के संस्कारों का तिरोभाव तथा निरोधदशा के संस्कारों का आविर्भाव होता है। (यो.सू.3.7-14)

शब्दार्थप्रत्ययानां च सङ्करोऽध्यासहेतुकः।
सर्वभूतरुतज्ञानं तत्प्रविभागसंयमात्॥6॥

पूर्वजातिपरिज्ञानं संस्कारसंयमादपि।
प्रत्यये परचित्तस्य ज्ञानं संयमतो मतम्॥7॥

न तत्सालम्बनं तस्याविषयत्वाच्च योगिनः।
संयमात्कायरूपस्य तद्ग्राह्यत्वनिवर्तनम्॥8॥

अन्तर्धानगतिश्चक्षुः प्रकाशायोगसम्भवात्।
अपरान्तपरिज्ञानमायुर्विपाकसंयमात्॥9॥

अरिष्टेभ्योऽथवोदेति मैत्र्यादिषु बलानि च।
बलेष्वश्वबलादीनि जायन्ते तस्य संयमात्॥10॥

प्रवृत्त्यालोकविन्यासात्सूक्ष्माद्यर्थपरिग्रहः।
भुवनावगमः सूर्ये संयमाच्चन्द्रसंयमे॥11॥

ताराव्यूहपरिज्ञानं ध्रुवे तद्गतिदर्शनात्।
कायव्यूहं विजानाति कृत्वा नाभौ तु संयमात्॥12॥

संयमात्कण्ठकूपे तु निवृत्तिः क्षुत्पिपासयोः।
स्थिरत्वं कूर्मनाड्यां च ज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥13॥

सकलं प्रातिभाद्वेत्ति हृदये चित्तवेदनम्।
पुरुषविषया प्रज्ञा पौरुषबोधसंयमात्॥14॥

=अब संयमलभ्य विशिष्ट विभूतियों का प्रकाशन करते हैं। हमें प्रत्येक व्यावहारिक पदार्थ में तत्सम्बन्धी शब्द, अर्थ और ज्ञान का पारस्परिक अभेदज्ञान होता है। किन्तु संयमपूर्वक उक्त तीनों का विभाग जो कर लेता है, वह योगी समस्त प्राणियों की वाणी के अर्थों का ज्ञाता हो जाता है। संयमपूर्वक अपने अन्तःकरणगत संस्कारों का साक्षात्कार करने वाला अपने पूर्वजन्मों को जान सकता है। जबकि दूसरों के अन्तःकरण का साक्षात्कार करने पर उनके चित्त को पढ़ सकता है। अपने शरीरनिष्ठ रूपगुण में संयम कर लेने वाला योगी स्वयं को अन्तर्धान कर सकता है। अपने सोपक्रम (उपक्रमसहित; फलीभूत होने

हेतु प्रवृत्त) तथा निरुपक्रम (उपक्रमरहित; फलीभूत न हुए) कर्मों में संयम करने वाला योगी अपनी मृत्यु या भावी अरिष्टों को जा सकता है। पीछे वर्णित मैत्री, दया या प्रसन्नता में संयम करने से प्राणी को क्रमशः तत्तद्विषयक सामर्थ्य प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्राणियों के बलों में संयम करने पर तत्तद् प्राणी के तुल्य बल प्राप्त हो सकता है। अपने मन की सत्त्वगुणप्रधान अवस्था में संयम करने से इस जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरातिदूर स्थित अभीष्ट पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। सर्वलोकसाक्षी सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का, चन्द्रमा में संयम करने से समस्त नक्षत्रमण्डल का, ध्रुव में संयम करने से सभी ताराओं की गति का तथा नाभिचक्र में संयम करने से अपने सम्पूर्ण कायव्यूह (शरीरतन्त्र) का ज्ञान हो जाता है। कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है, जबकि वक्षःस्थल में स्थित कूर्माकार नाडी में संयम करने से चित्त एवं शरीर की स्थिरता प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के प्रकाश में संयम करने से सिद्धपुरुषों का दर्शन अथवा सर्वज्ञत्व प्रसक्त होने लगता है। हृदयकमल में संयम करने से चित्त के स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है; जिसके उदित होते ही परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले बुद्धि (जड) एवं पुरुष (चेतन) में अभेदबुद्धिरूप ग्रन्थि ही प्राणी के सभी सुख-दुःखरूपी भोगों की प्रयोजक है। उक्त दोनों में स्वार्थप्रतीति के विषयभूत चित् में संयम करने से योगी को पुरुष का (अर्थात् अपने स्वरूप का) ज्ञान होने लगता है। (यो.सू.3.15-35)

ततः प्रातिभमादर्शः श्रावणं वेदना तथा।
वार्ताऽऽस्वादश्च जायन्ते दिव्यज्ञानानि योगिनः॥15॥

समाधावुपसर्गास्ते व्युत्थाने सिद्धयो मताः।
बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारावगमादपि॥16॥

चित्तस्य निक्षिपेद्योगी चित्तं देहान्तरेषु च।
अभङ्गो जलपङ्कादावुदानमरुतो जयात्॥17॥

उत्क्रान्तिश्च भवेज्ज्वालः समानमरुतो जयात्।
सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रकामाशशब्दयोः॥18॥

सम्बन्धसंयमात्कायाकाशयोर्लघुमत्स्वपि।
समापत्तेश्च सिद्धस्य गतिराकाशमण्डले॥19॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्विदेहा महती ततः।
योगिनो यतचित्तस्य प्रकाशावरणक्षयः॥20॥

=पुरुषज्ञान के होते ही योगी में 'प्रातिभ' (त्रिकालदर्शन या सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरातिदूरस्थ विषय का ज्ञान), 'श्रावण' (दिव्यशब्दानुभव), 'वेदन' (दिव्यस्पर्शानुभव), 'आदर्श' (दिव्यरूपानुभव), 'आस्वाद' (दिव्यरसानुभव) और 'वार्ता' (दिव्यगन्धानुभव)—ये छः सिद्धियाँ प्रकट हो जातीं हैं। हालांकि समाधि में उक्त छहों किसी विघ्न से कम नहीं है। कर्मसंस्कारों के कारण हमारा चित्त हमारे शरीर में आबद्ध रहता है। चित्त की गति (अर्थात् शरीर में आवागमन के द्वारों) का ज्ञान होते ही चित्त परकायाप्रवेश में समर्थ हो जाता है। संयमपूर्वक उदानवायु को जीत लेने पर जल-कीचड़-कण्टक-आदि योगी के शरीर में नहीं घुस पाते तथा उसकी ऊर्ध्वगति भी होती है। जबकि समानवायु को जीतने पर योगी का देह तेजस्वी होता है। श्रोत्र एवं आकाश के सम्बन्ध (एकत्व) में संयम करने से योगी के कान दिव्य हो जाते हैं। जबकि शरीर एवं आकाश के सम्बन्ध में तथा किसी हलकी वस्तु में संयम करने से आकाशगमन का सामर्थ्य प्राप्त होता है। सामान्यतः हमलोग अपने चित्त को कल्पितरूप से (अर्थात् सोचकर) शरीर के बाहर निकालते हैं। किन्तु योगीलोग अभ्यासपूर्वक अकल्पित (वास्तविक) रूप से उसको शरीर से बाहर निकाल लेते हैं; जिससे उनकी बुद्धि की ज्ञानशक्ति का पूर्ण प्रकाश होता है। (यो.सू.3.36-43)

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वय्यर्थवत्त्वेषु संयमात्।
भूतजयस्ततोऽणिमादिप्रादुर्भावोऽस्य जायते॥21॥

तद्धर्मानभिघातश्च कायसम्पत्ततोऽपि च।
कायसम्पद्बलं रूपलावण्यं वज्रसंहतिः॥22॥

संयमाद्ग्रहणादीनामिन्द्रियविजयो भवेत्।
ततो मधुप्रतीकाः स्युर्विवेकख्यातिमात्रतः॥23॥

अधिष्ठा सर्वभावानां सर्वज्ञातृत्वमेव च।
वैराग्यादपि कैवल्यं दोषबीजपरिक्षये॥24॥

=पाँचों भूतों में स्थूल (इन्द्रियग्राह्यता), स्वरूप (लक्षणनिष्ठता), सूक्ष्म (तन्मात्ररूपता), अन्वय (त्रिगुणव्याप्तता) और अर्थवत्त्व (प्रयोजनता)—ये पाँच अवस्थाएँ होतीं हैं। इनमें संयम करने से योगी को पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। इससे योगी में अणिमा-आदि आठों सिद्धियों का प्राकट्य हो जाता है, उसको कायसम्पत् (रूप-लावण्य-बल-पुष्टि) की प्राप्ति होती है तथा वह भूतनिष्ठ स्थूलत्व-आदि धर्मों से अप्रभावित रहता है। मन एवं इन्द्रियों की ग्रहण (विषयग्रहणकालिक स्थिति), स्वरूप (स्वाभाविक स्थिति), अस्मिता (उत्पत्तिकालिक सूक्ष्म स्थिति), अन्वय (त्रिगुणव्याप्तता) और अर्थवत्त्व (प्रयोजनता) नामक पाँच अवस्थाएँ होतीं हैं; जिनमें संयम करके मन एवं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियजय के तीन फल हैं : मन-जैसी गति, विकरणभाव (शरीर के बिना भी विषयग्रहण का सामर्थ्य) तथा प्रधानजय (प्रकृति का नियन्त्रण)। सबीज-समाधि में पुरुष एवं बुद्धि में केवल विवेक (स्वरूपगत भिन्नता) का ज्ञान रहता है। इसी को 'धर्ममेघ-समाधि' कहते हैं; जिसके माध्यम से योगी को सभी भावों का स्वामित्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है। यह सम्प्रज्ञात-समाधि की सर्वोत्तम स्थिति है; जिसमें पुनः परवैराग्य हो जाने पर पुरुष का गुणों के साथ आत्यन्तिक वियोग—जो 'कैवल्य' भी कहलाता है—की प्राप्ति हो जाती है। (यो.सू. 3.44-49)

स्थानिनिमन्त्रणे सङ्गाभिमत्यकरणं पुनः।
अनिष्टात्तद्विवेकोत्थं ज्ञानं क्षणक्रमे यमे॥25॥

अन्यत्वेनानवच्छेदोद्देशलक्षणजातिभिः।
तुल्ययोस्तु ततो ज्ञानं सर्वविषयमक्रमम्॥26॥

सर्वथा विषयं ज्ञानं तारकं च विवेकजम्।
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमीरितम्॥27॥

=साधना में उत्कर्ष होने पर देवता-आदि दिव्य भोगों का लोभ देते हैं। उनमें कभी नहीं फंसना चाहिए; अन्यथा अनिष्ट (पतन; संसारचक्र में पड़ना) सम्भव है। काल की सबसे छोटी व्यावहारिक इकाई—क्षण एवं उसके क्रम में संयम करने से विवेकख्याति उत्पन्न होती है। यह विवेकख्याति जाति-लक्षण-देश-भेद द्वारा भी सर्वथा अभिन्नवत् प्रतीत होने वाले पदार्थों में भेदबुद्धि (विवेकबुद्धि) प्रदान करती है। यह विवेकख्याति तारक (संसारसमुद्र से तारने वाली) है, सर्वविषय (सबको जानने वाली), सर्वथाविषय (सब प्रकार से जानने वाली) और अक्रम (पूर्वापर की संगति के बिना भी जानने वाली, अथवा अपरिवर्तनशील) है। पूर्वाचार्यों ने इसी ज्ञान को 'पुरुषख्याति' नाम से कहा है; जो कि परवैराग्य का हेतु माना गया है। बुद्धि एवं पुरुष का विवेक होने पर दोनों की शुद्धि होने लगती है। बुद्धि शुद्ध होकर अपने कारण में विलीन होने लगती है, जबकि पुरुष का बुद्धि से अज्ञानकृत सम्बन्ध एवं तज्जनित मल-विक्षेप-आदि वाला आवरण निराकृत होने लगता है। इसी से कैवल्य होता है। (यो.सू.3.50-55)

।। अथ कैवल्याख्यश्चतुर्थः पादः ।।

जन्मौषधितपोमन्त्रसमाध्युत्पन्नसिद्धयः।
पूरणात्प्रकृतीनां तु परिणामोऽन्यजन्मनः।।1।।

क्षेत्रिकवत्ततो भेदः प्रकृत्यावरणस्य तु।
जायते न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकम्।।2।।

निर्मिमीतेऽन्यचित्तानि सोऽस्मितामात्रचित्ततः।
वृत्तिभेदे त्वनेकेषां चित्तमेकं प्रयोजकम्।।3।।

=सिद्धियों के पाँच कारण होते हैं : जन्मना, मन्त्र, औषधि, तप एवं समाधि। यथा पक्षियों को आकाशगमन की सिद्धि जन्म से ही होती है। जबकि योगी लोग तप एवं समाधि से तथा तान्त्रिक लोग मन्त्र या औषधि के प्रयोग से आकाशगमन कर लेते हैं। वस्तुतः तत्तद् सिद्धि के लिए जिस-जिस तत्त्व की आवश्यकता रहती है, योग द्वारा उसकी पूर्ति हो जाने से शरीर-इन्द्रिय-चित्त का 'जात्यन्तरपरिणाम' (अर्थात् एक जाति–योनि से दूसरी जाति में परिवर्तन) हो जाता है। औषधि-मन्त्र-आदि पूर्वोक्त कारण तो चित्त के इस जात्यन्तरपरिणाम के निमित्तकारण होते हैं, जबकि इसका उपादान तो उस साधक की अस्मिता ही होती है। भले ही वह साधना के बल पर असंख्य जात्यन्तरपरिणाम कर ले (अर्थात् अनेक शरीर-इन्द्रिय-चित्त-आदि की सृष्टि) कर ले, किन्तु उन सभी का नियामक उसका वास्तविक चित्त ही होता है। (यो.सू.4.1-5)

तत्र ध्यानसमुत्पन्नमनाशयं मनो मतम्।
परेषां त्रिविधं कर्माशुक्लकृष्णं तु योगिनः।।4।।

त्रिविधात्तद्विपाकानुगुणानामेव जायते।
वासनानामभिव्यक्तिर्देशकालादिजातिभिः।।5।।

पाश्चात्त्यं विप्रकृष्टानां स्मृतिवासनयोरपि।
ऐक्यरूप्यादनादित्वं तासां नित्यतयाऽऽशिषः।।6।।

=जन्म-मन्त्र-आदि पूर्वोक्त पाँच कारणों से सिद्धि (शुद्धि) को प्राप्त हुए चित्त ध्यान द्वारा विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होकर 'अनाशय' (कर्मसंस्काररहित) हो पाता है। सभी सांसारिक प्राणी—अपनी चित्तगत अनादिकालिक वासनाओं (पूर्व संस्कारों) के आधार पर एवं जाति-देश-काल का व्यवधान रहने के कारण—तीन प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं : (1) शुक्ल (पुण्य), (2) कृष्ण (पाप) तथा (3) शुक्लकृष्ण (पापपुण्यमिश्रित)। किन्तु कर्मसंस्कारशून्य चित्त वाले शुद्धमना योगी के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं; अर्थात् उसको न ही पुण्य का स्पर्श होता है और न ही पाप का। (यो.सू.4.6-10)

हेतुफलाश्रयालम्बसङ्गृहीतास्तु वासनाः।
प्रवर्तन्तेऽप्ययेऽमीषामपीतिः सन्निरूपिता॥7॥

अस्ति स्वरूपतोऽतीतं भविष्यच्चाध्वभेदतः।
धर्माणां ते गुणात्मानो व्यक्ताः सूक्ष्माश्च भेदतः॥8॥

एकत्वात्परिणामस्य वस्तुतत्त्वमिति स्थितम्।

=(1) हेतु =अविद्या, (2) फल =शरीर एवं चित्तगत पूर्वसंस्कार, (3) आश्रय =चित्त तथा (4) आलम्बन =वासनाओं के विषय (शब्द-आदि)—इन चार के द्वारा अग्रिम वासनाओं का संचय होता है। और यदि उक्त चारों का का अभाव हो जाए, तो वासनाओं का भी निश्चित अभाव हो जाएगा। यद्यपि ये वासनाएँ सदैव विद्यमान रहतीं हैं, अतः इनका स्वरूपतः नाश नहीं हो सकता। किन्तु शुद्धचेता योगी का इनसे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है, इसलिए वे उसके पुनर्जन्म का कारण नहीं बन पातीं। वासनाएँ चाहें अपने सूक्ष्म (अतीत या अनागत) रूप में रहें अथवा व्यक्त (वर्तमान, फलाभिमुख) रूप में, वे सदैव त्रिगुणात्मक ही होतीं हैं। हालांकि गुणतारतम्य से दृश्य में भी तारतम्य की प्रतीति होती है। (यो.सू.4.11-14)

साम्येऽपि वस्तुनश्चित्तभेदाद्विभक्तृता तयोः॥9॥

न चैकचित्ततन्त्रं हि वस्तु तदप्रामाणिकम्।
परिणामि भवेच्चित्तं ज्ञाताज्ञातस्वरूपतः॥10॥

=यद्यपि चित्त भी त्रिगुणात्मक है, तथापि त्रिगुणात्मक चित्त से त्रिगुणात्मक दृश्य के एकत्व की कल्पना नहीं करनी चाहिए। चित्त (दर्शन-साधन) एवं उसका दृश्य–ये दोनों भिन्न हैं। कारण कि दृश्यप्रपंच को यदि चित्त का विलास माना जाए, तो अनेक चित्तों के द्वारा किसी एक दृश्य का समान दर्शन कैसे सम्भव है? और फिर; दृश्य की स्थिति चित्तसापेक्ष नहीं है। अतः दृश्य वस्तु को चित्त से भिन्न एवं सत्य पदार्थ मानना चाहिए। हालांकि दृश्य का दर्शन तभी होता है, जब इन्द्रियों के माध्यम से चित्त का दृश्य से सम्बन्ध बनता है; अन्यथा नहीं। (यो.सू. 4.15-17)

चेतसो वृत्तयो ज्ञाताः प्रभोरपरिणामिताम्।
बोधयन्ति स्वयम्भास्त्वं दृश्यत्वात्तस्य नेष्यते॥11॥

एकदा चोभयाऽज्ञानाच्चित्तान्तरप्रकाशने।
बुद्धेरतिप्रसङ्गः स्यात्स्मृतिसाङ्कर्यमेव च॥12॥

=समग्र दृश्यों के द्रष्टा–पुरुष अपरिणामी है तथा चित्त का प्रभु/नियामक है। इसीलिए चित्त की समस्त वृत्तियाँ उसको ज्ञात रहतीं हैं। चित्त स्वप्रकाश नहीं है, इसीलिए उसको अपने से भिन्न किसी प्रकाशक–द्रष्टा की आवश्यकता रहती है। वह अपने स्वामी–पुरुष (द्रष्टा) से ही चेतित होकर बाह्य पदार्थों (अर्थात् दृश्य) के ज्ञान को उसके समक्ष प्रस्तुत कर देता है। चित्त को ही एक-साथ दर्शन का द्रष्टा, विषय एवं साधन नहीं मान सकते। अन्यथा एक चित्त ने अन्य चित्त के माध्यम से किसी अन्य चित्त का दर्शन किया और पुनः दूसरे चित्त ने तीसरे चित्त से सम्बद्ध ज्ञान को पहले चित्त के समक्ष प्रस्तुत किया ... इस प्रकार; अनेक चित्तों में परस्पर अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। इस क्लेश से बचने के लिए चित्त से भिन्न उसके द्रष्टा को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा। (यो.सू.4. 18-21)

तदाकारसमापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनं चितेः।
सर्वार्थं द्रष्टृदृश्याभ्यां रक्तं चित्तमिहोच्यते॥13॥

चित्तं संहत्यकारित्वात्परार्थं वासनान्वितम्।

=यद्यपि चित्त का द्रष्टा–पुरुष स्वरूपतः चित्त से सर्वथा विलक्षण है। वह असंग, निर्विकार एवं क्रियारहित है। वह ज्ञाता, भोक्ता नहीं है; किन्तु पीछे वर्णित अस्मिता के कारण उसने अपने स्वरूप में ज्ञातृत्व की कल्पना कर रखी है। इससे वह चित्त को ही अपना स्वरूप मान बैठा है। चित्त द्रष्टा पुरुष के स्वरूपनिष्ठ धर्मों की, दृश्य के धर्मों की तथा अपने निजी धर्मों की अपने में कल्पना करने लगता है। वहीं; अस्मितावश चित्त से तदाकार हो चुका पुरुष स्वयं को वैसा ही मानने लगता है। (यो. सू.4.22–24)

कोऽहमासं कथं त्वासं किंस्विदिदं कथं त्विदम्॥14॥

इतः परं भविष्यामः के कथं किन्त्विदं कथम्।
भविष्यतीति भावास्ते निवर्तन्ते विवेकिनः॥15॥

चित्तं कैवल्यप्राग्भारं निम्नं विवेकजात्तदा।
य एतदीयछिद्रेषु प्रत्यया वासनोदिताः॥16॥

हानमेषां तदा प्रोक्तं क्लेशवद्योगवित्तमैः।
प्रसङ्ख्यानेऽकुसीदस्य सर्वथा भेदख्यातितः॥17॥

धर्ममेघः समापत्तिस्ततः क्लेशनिवर्तनम्।
सर्वावरणमलैर्हीनं ज्ञानमल्पार्थकं तदा॥18॥

गुणानां कृतकार्याणां परिणामक्रमोऽप्यतः।
नोत्सहते क्षणं स्थातुं निवृत्तो जारवत्तदा॥19॥

क्रमोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः प्रतियोगीक्षणस्य तु।
गुणाप्ययः प्रतिष्ठा वा चितेः कैवल्यमीरितम्॥20॥

=समाधिजनित विवेकख्याति के द्वारा चित्त एवं पुरुष के भेद जान लेने पर योगी की 'आत्मभावभावना' (अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा) आत्यन्तिक रूप से शान्त हो जाती है। संसारी प्राणियों का चित्त विषयोन्मुख रहता है, किन्तु विवेकख्यातिसम्पन्न योगी का चित्त संसार से उपरत होकर कैवल्योन्मुख हो जाता है। उस स्थिति में योगी

को बाह्य दृश्य का दर्शन होता है, किन्तु उसके लिए वह दृश्य दग्धबीज के समान होता है। अभिप्राय : जैसे दग्ध हो चुके बीज कभी फलीभूत नहीं होते, ठीक वैसे ही अनुभूयमान दृश्य–संसार उस योगी को पुनः संसारभाव में नहीं फंसा पाता। फिर वे दृश्य-सम्बन्धी संस्कार भी अनुभूत हो जाने के कारण क्षीण हो जाते हैं तथा वह योगी शुद्धचेता (अर्थात् शुद्ध=कर्मसंस्कारशून्य चित्त वाला) हो जाता है। उस समय योगी धर्ममेघ-समाधि में स्थित होता है; जिसकी सिद्धि द्वारा उसके क्लेश-कर्म भी समूल नष्ट हो जाते हैं। तब उसको सर्वज्ञता एवं सर्वभावस्वामित्व प्राप्त होता है; जिसमें परवैराग्य रखकर योगी अपनी सर्वज्ञता का ऐसा विकास कर लेता है, मानो सभी ज्ञेय पदार्थ उसके लिए अत्यधिक अल्प हो जाते हैं। धर्ममेघ-समाधि में पहुँचे योगी का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। पुरुष को भोगापवर्ग की सिद्धि करवाने के लिए ही गुणों (प्रकृति) का बुद्धि-अहंकार-तन्मात्रा-आदि के रूप में विस्तार (परिणमन) हुआ था। किन्तु उसके भोगापवर्ग की सिद्धि हो जाने पर गुणों का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः उनका परिणामक्रम (भावान्तरण-प्रक्रिया) समाप्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण गुणप्रपंच अपने कारण में विलीन हो जाता है। इस प्रकार; पुरुष एवं प्रकृति के अविद्यामूलक संयोग का आत्यन्तिक निवारण हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को योगदर्शन में 'कैवल्य' अथवा चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध कहा है। (यो.सू.4.25-34)

॥ इति साङ्ख्ययोगवेदान्तोपाध्यायैः श्रीकुलयशस्विशास्त्रिभिः
(श्रीशङ्करब्रह्मण्यदेवतीर्थस्वामिभिः)
विरचितो योगमकरन्दः समाप्तः॥

विशेष : *यह भावानुवाद कारिकाओं के साथ-साथ मूल योगसूत्रों पर भी आश्रित है। पाठकों की सुविधा हेतु कारिकाओं में प्रयुक्त योगसूत्रों का स्थलनिर्देश भी कोष्ठक में कर दिया गया है।*

शोध–प्रकाशनविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
बी–4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली–110016